

वर्ष ४६ ]  *  *  *  *  [ अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६६,५००

# विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, मई १९७२



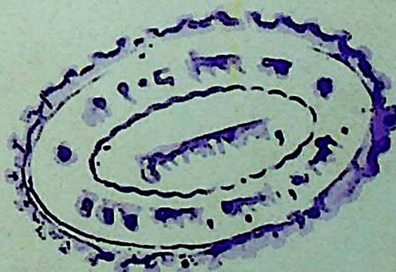
## चित्र-सूची

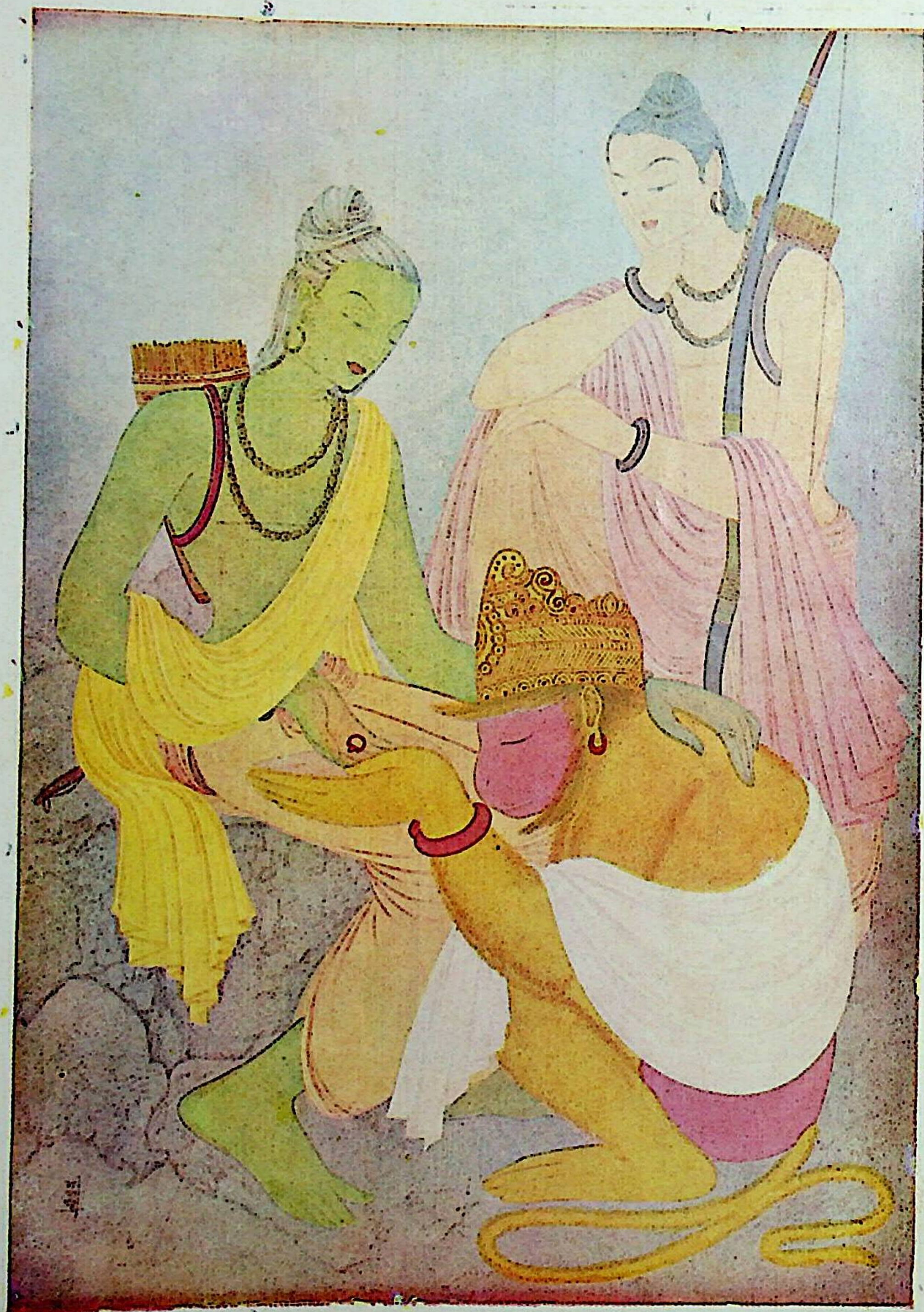


Free of charge ] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [ बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर





मुद्रिका-दान

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

# कल्याण

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥

(रामरक्षास्तोत्र, ३१)

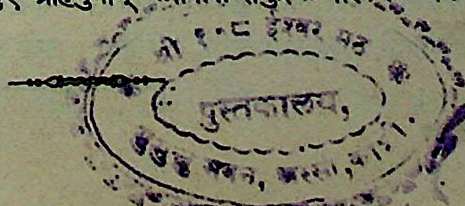
वर्ष ४६ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, मई १९७२ { संख्या ५ पूर्ण संख्या ५४६

## श्रीराम-नामकी महिमा

राम राम तव नाम जपन्तः पामरा अपि तरन्ति भवाब्धिम् ।
अङ्गसङ्गिभवदङ्गुलिमुद्रः किं विचित्रमतरत् कपिरब्धिम् ॥

(श्रीरामकर्णामृत ४ । ७७)

हे राम ! श्रीराम !! आपके नामका जप करनेवाले पामर जीव भी भवसागरको अनायास पार कर जाते हैं । फिर आपके नामसे अङ्कित आपकी अँगूठीको अपने मुखमें लिये हुए श्रीहनुमान् लौकिक समुद्रके पार चले गये— इसमें आश्चर्य ही क्या है ।



संसारके जितने भी भोग हैं—छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े, सब-के-सब अनित्य हैं—सदा रहनेवाले नहीं हैं। दूसरे, सब-के-सब भोग अपूर्ण हैं; कोई भी भोग ऐसा नहीं है, जिसको प्राप्त करके आप यह अनुभव कर सकें—अब और कुछ नहीं चाहिये। तीसरे, भोग जितने अधिक होंगे, उतनी ही भोगोंकी चाह अधिक बढ़ेगी और जितनी बड़ी चाहरूपी आग होगी, उतने अधिक ईंधनकी आवश्यकता होगी—यह नियम है। अतएव जिसके पास जितना बड़ा भोग-समुदाय है, उसकी भोगोंकी भूख उतनी ही बड़ी है और जितनी बड़ी भोगोंकी भूख है, उतना ही बड़ा उसका दुःख है। आग जितनी बड़ी होती है, उसकी उतनी ही बड़ी गर्मी होती है तथा वह उतनी दूरतक ताप पहुँचाती है। जितना ही भोग-बाहुल्य है, उतना ही दुःख-बाहुल्य है, ताप-बाहुल्य है और उस दुःख तथा तापका प्रभाव उतनी ही दूरतक प्रसारित होता रहता है।

भोगोंकी प्राप्ति प्रारब्धाधीन है। हमलोग मिथ्या प्रयास करते हैं—झूठ बोलते हैं, छल करते हैं, कपट करते हैं, आपसमें लड़ते हैं—पड़ोसी पड़ोसीसे, भाई भाईसे, पिता पुत्रसे। यह सब क्यों होता है? हमने मनमें ऐसा मान रक्खा है कि हम 'अपना' प्रयास करके अधिक पा लेंगे अथवा हमारा कोई नुकसान हो रहा है; उस नुकसानसे अपनेको बचा लेंगे। किंतु हमारी यह धारणा भ्रामक है। प्रारब्ध प्रायश्चित्तसे, भगवच्छरणागतिसे अथवा ज्ञानसे ही जल सकता है; किंतु जबतक वह जलता नहीं, तबतक प्रारब्धका भोग करना ही पड़ेगा—

अवश्यमेव हि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

हमारा कोई नुकसान हो रहा है; हमारे मनमें विचार उत्पन्न होता है कि अमुक व्यक्तिसे नुकसान हो रहा है। प्रथम तो ऐसी मान्यतामें हमारी भूल हो सकती है और अमुक व्यक्तिका हमारे नुकसानमें तनिक भी हाथ नहीं है। दूसरे, यदि वह व्यक्ति नुकसान करनेका प्रयत्न कर भी रहा है तो वह हमारा नुकसान कभी कर ही नहीं सकता, यदि हमारा प्रारब्ध नुकसानका नहीं है। हमारा नुकसान तभी होना सम्भव है, जब हमारा प्रारब्ध वैसा है। ऐसी अवस्थामें जो हमारा नुकसान करनेका—हमारा बुरा करनेका, हमें कष्ट पहुँचानेका मनोरथ करता है, प्रयत्न करता है, वह नया पाप-कर्म कर रहा है और उसके फलरूपमें उसको दुःख भोगना पड़ेगा। साथ ही हमारा प्रारब्ध न हुए बिना वह हमें नुकसान पहुँचा नहीं सकता। अतएव जब हमें कोई नुकसान पहुँचता है और नुकसान पहुँचानेमें हमको दूसरा व्यक्ति कारण दीखता है, वहाँ हमें सोचना चाहिये कि 'वह व्यक्ति बेचारा दयाका पात्र है, वह अपने-आप अपनी बुराई कर रहा है, भगवान् उसे क्षमा करें, उसपर कृपा करें, उसको सद्बुद्धि दें; हमारा जो कुछ होना होगा, वह प्रारब्धके अनुसार होगा ही, वह उसमें निमित्त न बने तब भी होगा; किंतु उसमें वह निमित्त बनकर नया पाप कर रहा है।'

जो नियम दूसरोंके लिये है, वही हमारे ऊपर भी लागू होता है। अतएव हमलोग भोगोंकी प्राप्तिके लिये जो नये-नये पाप करते हैं—झूठ बोलते हैं, छल करते हैं, कपट करते हैं, हिंसा करते हैं, चोरी करते हैं, दंगा करते हैं, ये सब पाप तो हमारे पल्ले बँध जाते हैं और हमारा लाभ उतना ही होता है, जितना होना अवश्यम्भावी है। अतएव कर्मके इस सिद्धान्तको समझकर हमें निश्चिन्त रहना चाहिये; कभी भी छल, कपट, असत्य भाषण आदिका आश्रय नहीं ग्रहण करना चाहिये। जो लोग छल-कपट आदिका आश्रय ग्रहण करते हैं, उन्हें दयाका पात्र मानकर उनके प्रति सद्भाव बनाना चाहिये तथा भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि वे उन्हें क्षमा करें, उन्हें निर्मल बुद्धि प्रदान करें।

# ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

१—श्रुति, स्मृति अथवा उपनिषद् आदि किसी भी प्रामाणिक सद्ग्रन्थसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि काम-क्रोधादि विकारोंके रहते जीवन्मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

२—श्रद्धा-सम्पन्न पुरुषोंके सङ्ग और निष्काम-भावसे किये हुए तप, यज्ञ, दान, दया और भगवद्भक्ति आदि साधनोंसे हृदयके पवित्र होनेपर ईश्वर, परलोक, शास्त्र और महापुरुषोंमें प्रेम एवं श्रद्धा होती है। श्रद्धा ही मनुष्यका स्वरूप है, इस लोक और परलोकमें श्रद्धा ही उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा है।

३—शम, दम, धृति, क्षमा, शान्ति, संतोष, जप, तप, सत्य, दया, ध्यान और सेवा आदि जो भी गुण और कर्म आपके विचारमें उत्तम प्रतीत हों, उनका ग्रहण तथा प्रमाद, आलस्य, निद्रा, विषयासक्ति, झूठ, कपट, चोरी-जारी आदि दुर्गुण और दुष्कर्मोंका त्याग करना चाहिये।

४—गुरुजनोंके आशीर्वादसे आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है। उनके अनुभवपूर्ण वाक्योंसे हमें आदर्श-जीवन बितानेका मार्ग सूझता है। अतएव यथासाध्य गुरुजनोंकी आज्ञा पालन करनेमें तत्पर होना चाहिये।

५—सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करके उनके उत्तम आचरणों और उपदेशोंका अनुकरण और ग्रहण करना चाहिये।

६—ईश्वरकी सत्तापर विश्वास करना चाहिये। परमात्माका विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा त्यों-ही-त्यों सारे दोष स्वयमेव नष्ट होते चले जायँगे। सर्वव्यापी परमेश्वरमें जितना अधिक विश्वास होगा, उतना ही आत्मा अधिक उन्नत होगा।

७—ईश्वरके शरणागत होकर निष्काम और प्रेमभावसे उसके नामके जपका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये। जिसका जिस नामसे प्रेम हो, उसके लिये वही नाम विशेष लाभप्रद है।

८—परमेश्वरके स्वरूपका मनन करना चाहिये। जिसको जो इष्ट हो, अपनी कल्पनामें ईश्वरको जो जैसा समझता हो, उसे वैसे ही स्वरूप या भावका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये।

९—मन-वाणी-शरीरके द्वारा स्वार्थरहित होकर वैसी चेष्टा सदैव करते रहना चाहिये, जो अपनी बुद्धिमें कल्याणके लिये अत्यन्त श्रेयस्कर प्रतीत हो।

१०—जिसको अपना कर्तव्य समझ लिया, उसके पालन करनेमें दृढ़ रहना चाहिये। लोभ, भय, स्वार्थ या अज्ञान—किसी भी कारणसे कर्तव्यच्युत नहीं होना चाहिये।

११—काम छोटा-सा है, परंतु भावना बड़ी ऊँची है—जगत्के समस्त प्राणियोंके निमित्त अपने भोजनमेंसे कुछ अंश देकर बाकी बचा हुआ अन्न खाना कितनी उदारता और समताका सूचक है। देवता, ऋषि तो भावनासे तृप्त होते हैं और अतिथि आदिकी प्रत्यक्षमें तृप्ति हो जाती है। थोड़े-से अभ्याससे महान् फल मिलता है।

प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन बलिवैश्वदेव करके भोजन करना चाहिये; क्योंकि गृहस्थाश्रममें नित्य होनेवाले पापोंके नाशके लिये जिन पञ्च महायज्ञोंका विधान है, वे इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

१२—जो धीरजको धारण किये रहता है, उसीका धर्म बचता है और वही लौकिक और पारलौकिक सफलता प्राप्त कर सकता है।

१३—सेवा मनुष्यका मुख्य धर्म है। सारे संसारको भगवान्का स्वरूप समझकर मन-वाणी-शरीरसे अभिमान छोड़कर सबकी निःस्वार्थ सेवा करनी चाहिये। जिसकी सेवा करनेका मौका मिले, उसका और भगवान्का अपने ऊपर उपकार मानना चाहिये; क्योंकि उसने हमारी सेवा स्वीकार करके और भगवान्ने सेवाका अवसर प्रदान करके हमारा बड़ा उपकार किया। सेवा करके किसीपर एहसान नहीं करना चाहिये तथा सेवा स्वीकार करनेवालेको कभी छोटा नहीं समझना चाहिये।

१४—हिंदू-शास्त्रोंमें गौकी बड़ी महिमा है। गौकी

सेवासे सम्पूर्ण अभीष्टोंकी सिद्धि होती है। गोमूत्र, गोमय, दूध, दही और घृत—इस पञ्चगव्यका सेवन पवित्र और पापनाशक है।

१५—जब साधारण सत्पुरुष ही अपने उपकारी और दयालुको भूलकर उसके विपरीत क्रिया नहीं करता, तब परमात्माकी दयाके प्रभावको जाननेवाले महात्मा पुरुष परमात्माको कैसे भूल सकते हैं और कैसे उनके विपरीत कोई क्रिया कर सकते हैं। ऐसे पुरुषोंद्वारा किया हुआ आचरण ही 'सदाचार' कहलाता है और लोग उसे प्रमाण मानकर उसीके अनुसार चलते हैं।

१६—जो पुरुष शास्त्रविहित अपने वर्णाश्रमके अनुकूल परिश्रम करके न्यायसे प्राप्त हुए सात्त्विक द्रव्यका आहार करता है, उसका वह आहार सत्य आहार कहलाता है।

१७—प्रत्येक यज्ञोपवीतधारी द्विजको कम-से-कम दोनों कालकी संध्या ठीक समयपर करनी चाहिये। समयपर की हुई संध्या बहुत ही लाभदायक होती है। स्मरण रखना चाहिये कि समयपर बोये हुए बीज ही उत्तम फलदायक हुआ करते हैं। ठीक कालपर संध्या करनेवाले पुरुषके धर्म एवं तेजकी वृद्धि महर्षि जरत्कारुके समान हो सकती है।

१८—वेद और शास्त्रमें गायत्री-मन्त्रके समान अन्य किसी भी मन्त्रका महत्त्व नहीं बतलाया गया। अतएव शुद्ध होकर पवित्र स्थानमें अवकाशके अनुसार अधिक-से-अधिक गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये। कम-से-कम प्रातः और सायं १०८ मन्त्रोंकी एक-एक मालाका जप तो अवश्य ही करना चाहिये।

१९—

**हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।**
**हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥**

—इस षोडश नामके मन्त्रका जप सभी जातियोंके स्त्री-पुरुष सब समयपर कर सकते हैं। यह बहुत ही उपयोगी मन्त्र है। कलिसंतरण-उपनिषद्‌में इस मन्त्रका बहुत माहात्म्य बतलाया गया है।

२०—श्रीमद्भगवद्गीताका पठन और अध्ययन सबको करना चाहिये। बिना अर्थ समझे हुए भी गीताका पाठ बहुत लाभकारी है, परंतु वास्तवमें बिना मतलब समझकर किये हुए अठारह अध्यायके मूल पाठकी अपेक्षा एक अध्यायका भी अर्थ समझकर पाठ करना श्रेष्ठ है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको यथासाध्य गीताके एक अध्यायका अर्थसहित पाठ तो अवश्य ही करना चाहिये।

२१—प्रत्येक मनुष्यको अपने घरमें अपने भावनानुसार भगवान्‌की मूर्ति रखकर प्रेमके साथ प्रतिदिन उसकी पूजा करनी चाहिये। इससे भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होती है, शुभ संस्कारोंका संचय होता है और समयका सदुपयोग होता है।

२२—मनुष्यको प्रतिदिन ( गीता अ० ६ श्लोक १० से १३ के अनुसार ) एकान्तमें बैठकर कम-से-कम एक घंटे अपनी रुचिके अनुसार साकार या निराकार भगवान्‌का ध्यान करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इससे पाप और विक्षेपोंका समूल नाश होता है और कल्याण-मार्गमें बहुत उन्नति होती है।

२३—मनुष्यको सब समय भगवान्‌के नाम और स्वरूपका स्मरण करते हुए ही अपने धर्मके अनुसार शरीर-निर्वाह और अन्य प्रकारकी चेष्टा करनी चाहिये।

२४—परमात्मा सारे विश्वमें व्याप्त हैं, इसलिये सबकी सेवा ही परमात्माकी सेवा है। अतएव मनुष्यको परम सिद्धिकी प्राप्तिके लिये सम्पूर्ण जीवोंको उन्हें ईश्वररूप समझकर अपने न्याययुक्त कर्तव्यकर्मद्वारा सुख पहुँचानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

२५—अपने द्वारपर आये हुए याचकको कुछ देनेकी शक्ति या किसी कारणवश इच्छा न होनेपर भी उसके साथ विनय, सत्कार और प्रेमका बर्ताव करना चाहिये।

२६—सम्पूर्ण जीव परमात्माके अंश होनेके कारण परमात्माके ही स्वरूप हैं। अतएव निन्दा, घृणा, द्वेष और हिंसाका त्याग कर सबके साथ निःस्वार्थ भावसे विशुद्ध प्रेम बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

२७—धर्म और ईश्वरमें श्रद्धा तथा प्रेम रखनेवाले स्वार्थत्यागी सदाचारी सत्पुरुषोंका सङ्ग कर उनकी आज्ञाका तथा अनुकूलताके अनुसार आचरण करते हुए सङ्गका विशेष लाभ उठाना चाहिये।

२८—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्मकी वृद्धिके लिये श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रोंके पठन-पाठन और श्रवण-मनन-के द्वारा उनका तत्त्व समझकर अपने आत्माको उन्नत बनाना चाहिये।

२९—रुपयोंकी कामनासे संसारका काम करनेपर मन संसारमें रम जाता है। इसलिये संसारके काम बड़ी ही सावधानीसे केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे करने चाहिये।

३०—संसारके पदार्थों और सांसारिक विषयी मनुष्योंका सङ्ग, जहाँतक हो, कम करना चाहिये। सांसारिक विषयोंकी बातें भी यथासाध्य कम ही करनी चाहिये।

३१—किसी दूसरेके दोष नहीं देखने चाहिये; स्वभाववश दीख जायँ तो बिना पूछे बतलाने नहीं चाहिये।

३२—सबमें निष्काम और समभावसे प्रेम रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

३३—निरन्तर नाम-जपके अभ्यासको कभी छोड़ना नहीं चाहिये; उसमें जिस कार्यसे बाधा आती हो उसे ही छोड़ देना उचित है। परम हर्ष और प्रेमसे नित्य-निरन्तर भजन होता रहे तो फिर भगवद्दर्शनकी भी आवश्यकता नहीं है। भजनका प्रेम ऐसा बढ़ जाना चाहिये कि जिसमें शरीरका भी ज्ञान न रहे। भगवान् स्वयं पधारकर चेत करायें तो भी सुतीक्ष्णजीकी भाँति प्रेम-समाधि न टूटे।

३४—साधनोंकी शीघ्र सिद्धिके लिये इन्द्रियोंका संयम करके तत्परतासे अभ्यास करना चाहिये। इसके लिये किसी बातकी भी परवा नहीं करनी चाहिये, शरीरकी भी नहीं।

३५—शरीरमें अहंकार होनेसे ही शरीरके निर्वाहकी चिन्ता होती है। अतएव यथासाध्य शरीररूपी जेलमें जान-बूझकर कभी प्रवेश नहीं करना चाहिये।

३६—अपने द्वारा की हुई भलाई और दूसरोंद्वारा की हुई अपनी बुराईको भूल जायँ। किंतु दूसरेके द्वारा किये गये उपकारको कभी न भूलें। सबके साथ प्रेमका व्यवहार और सम्मानपूर्वक बातचीत करें। अपने साथ अनुचित व्यवहार करनेवालेके साथ भी ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष, घृणा आदिसे रहित होकर उसका हित करनेकी कोशिश करें।

३७—अतिथि देवताके समान होता है। उसको प्रेमयुक्त सेवा और भोजनादिसे सदा संतुष्ट करना चाहिये। अतिथि-सेवा गृहस्थका एक मुख्य धर्म माना गया है।

३८—माता-पिता जो भी आचरण करते हैं, बालकोंपर उनका विशेष असर पड़ता है। अतः स्त्रियोंको झूठ-कपट आदि दुराचार एवं काम, क्रोध आदि दुर्गुणोंका सर्वथा त्याग करके उत्तम आचरण करने चाहिये।

३९—( स्त्रियोंको ) पर-पुरुषका दर्शन, स्पर्श, एकान्तवास एवं उसके चित्रका भी चिन्तन नहीं करना चाहिये। लोभ, मोह, शोक, हिंसा, दम्भ, पाखण्ड आदिसे सदा बचकर रहना चाहिये और उत्तम गुण एवं आचरणोंके लिये गीता, रामायण, भागवत, महाभारत एवं सती-साध्वी स्त्रियोंके चरित्र पढ़नेका अभ्यास रखना चाहिये और उनके अनुसार ही बालकोंको शिक्षा देनी चाहिये।

४०—पतिके शान्त होनेके बाद विधवा स्त्रीको उचित है कि जिस प्रकार पतिकी जीवित अवस्थामें उसके मनके अनुकूल आचरण करती थी, उसी प्रकार उसके मरनेपर भी करना चाहिये। धर्मका ऐसा आचरण करनेवाली स्त्री पतिके मरनेपर भी साध्वी कहलाती है और वह उत्तम गतिको प्राप्त होती है।

४१—विधवा स्त्रियोंको निष्काम भावसे पतिव्रता स्त्रियोंकी भाँति पतिके मरनेके बादमें भी पतिको जिस कार्यसे संतोष होता था, वही कार्य करके अपना काल व्यतीत करना चाहिये।

# परमार्थकी पगडंडियाँ

[ नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ) के अमृत-वचन ]

प्रभुकी स्मृति हमारे हृदयसे कभी क्षणभरके लिये भी न निकले तथा सदा-सर्वत्र प्रभुकी संनिधिका अनुभव होता रहे—यही सर्वोत्तम साधन है और यही वस्तुतः साध्य भी है। प्रभुकी स्मृति मनमें निरन्तर अत्यन्त पवित्र तथा मधुर रूपमें बढ़ती ही रहे—इसमें दूसरेको पता लगानेका प्रश्न ही नहीं होता। प्रभु-प्रेम दिखावेके लिये तो होता ही नहीं। वह तो हृदयका अमूल्य गुप्त धन है। प्रभु ही जानते हैं; अन्य किसीके जानने-मानने या देखने-सुननेकी क्या आवश्यकता है। ऐसा गुप्त अमूल्य निर्मल प्रेम सदा-सर्वत्र रह सकता है। प्रभु तथा उनके प्रेमकी सदा-सर्वत्र स्थिति है तथा अबाध गति है।

× × × ×

अपनेमें निरन्तर दोष, अभाव, बुराई, त्रुटि आदि दीखना और प्रेमास्पद प्रभुका इस ओर जरा भी ध्यान न देकर सदा-सर्वदा अपने स्वभाववश ही अनन्त प्रेम करते दीखना—यही तो प्रेमकी ऊँची साधना है। अपनेमें यदि कभी कोई अहंकार आता है तो वह इस बातका आता है कि प्रेमास्पद परम प्रभु स्वभाववश मुझसे प्रेम करते हैं; अपने किसी गुणको लेकर कभी अभिमान आता ही नहीं। श्रीराधा कहती हैं—

मैं अति कुटिल, कुरूप, कुमति, सब विधि गुणहीन, दीन नारी।
वे प्रभु प्रेमानन्द सुधानिधि, गुणनिधि, शुचि, सुन्दर भारी॥
मेरी ओर देखना भी है नहीं उचित उनको पल एक।
पर वे मुझपर ही न्योछावर रहते सदा विरदकी टेक॥

निरन्तर प्रभुके शील, सौजन्य, सौहार्द, कारुण्य, औदार्य, सौन्दर्य तथा माधुर्यकी स्मृति रखते हुए उनके चरणोंमें अवनत रहना ही हमारा कार्य है। वे प्रभु अपनी शक्ति-सामर्थ्यसे, अपनी गुणगरिमासे, अपनी स्वभाव-महिमासे हमें सर्वथा विशुद्ध, निर्मल, अपने योग्य बनाकर स्वीकार कर लेंगे। उनके स्वभावको देखकर हमें मुग्ध, आनन्दित, उल्लसित और परम आशावान् होना चाहिये—

हम बुरे हैं, अति बुरे हैं, बुरोंके सरदार हैं।
पर हमारे नाथका हमपर अनोखा प्यार है॥
हैं नहीं वे देखते कोई बुराई भी कभी।
सौंपनेको हैं सदा तैयार अपनेको अभी॥

भगवान्‌की अहैतुकी प्रीतिकी सुधावर्षा निरन्तर हमारे ऊपर हो रही है—यही समझकर सदा प्रसन्न तथा परम आशावान् रहना चाहिये। आशावान् ही नहीं, प्रभुकी अपार प्रीतिका सदा अनुभव करना चाहिये।

× × × ×

मनुष्य अपने भावके अनुसार सोचता है। सबके दृष्टिकोण अलग-अलग होते हैं। रुचि, समझ, अनुकूल-प्रतिकूल भाव—सबके एक-से नहीं होते। इसलिये अपने किसीका कोई दोष नहीं देखना चाहिये; मानना ही नहीं चाहिये। अपने 'निजजन' तो एकमात्र प्रभु हैं; अतः यह निश्चय—परम निश्चय रखना

चाहिये कि वे कभी क्षणभरके लिये भी 'पर' हो ही नहीं सकते। वे सदा-सर्वदा समीप रहते हैं—रहेंगे। हम कभी उन्हें देख पाते हैं, कभी नहीं। पर हमारे न देख पानेपर भी वे रहते ही हैं—सोते-जागते, घर-बाहर, यहाँ-वहाँ सभी समय तथा सभी स्थानोंमें, जहाँ हम रहते हैं, वहीं वे रहते हैं। व्यापक ब्रह्मरूपमें नहीं, भक्तके भगवान् तथा प्रेमीके परम प्रियतम रूपमें। तुमने यह बहुत ठीक लिखा है कि 'इस सुखको कोई कभी भी छीन नहीं सकता। यह तो सदा एकरस, अखण्ड, नित्य और पूर्ण है।' अतएव प्रभुको सदा-सर्वत्र अपने समीप समझकर खूब-खूब प्रसन्न रहना चाहिये। यह केवल भावुकताकी या मन भुलानेकी बात नहीं है; वास्तवमें ही भगवान् भक्तके साथ अपना ऐसा ही सम्बन्ध रखते हैं। वे उसे लोभीके धनकी भाँति हृदयमें बसाये रखते हैं तथा उसके हृदयको अपना निजगृह मानकर नित्य उसमें बसे रहते हैं तथा प्रत्येक अङ्गसे सदा अपनी संनिधिका अनुभव कराते रहते हैं। अपनेमें प्रेमकी कमी दीखना तो वास्तवमें प्रेमका लक्षण है। हृदयमें गंदगी भी दीखती है, पर श्रीभगवान् स्वयं उस गंदगीको साफ करके उसमें बस जाते हैं। हृदय उनको दे देना चाहिये। उनकी चीज वे आप सँभालेंगे, सुधारेंगे, रक्षा करेंगे, उसको सुरम्य बनायेंगे।

× × × ×

भगवान्‌ने जो मङ्गलविधान रचा है, वही परम मङ्गलमय है। उसीमें सदा प्रसन्न रहना चाहिये। मनमें कोई भी विचार नहीं करना चाहिये। भगवान् सदा-सर्वत्र हैं, उनके स्मरणमें ही परम कल्याण है—निरन्तर उन्हींका पवित्र मधुर स्मरण करते रहना चाहिये।

भगवान्‌की तुमपर बड़ी ही कृपा है। फिर तुम इतना विचार क्यों किया करते हो। उस कृपापर विश्वास करो। तुम्हारे मनमें जो कुछ भगवत्प्रेमकी अभिलाषा है, उसे भगवान् अवश्य पूर्ण करेंगे—निश्चयपूर्वक ऐसी दृढ़ अनुभूति करो। भगवान्‌के प्रति जो अपनेको सौंप देता है तथा सब जगहसे ममत्व हटाकर भगवान्‌में ही ममत्व कर लेता है, वह निरन्तर लोभीके धनकी तरह भगवान्‌के हृदयमें बसता है। उसे भगवान् हृदयमें बसाये रखते हैं। उन्हें उसके बिना चैन ही नहीं पड़ती। भगवान्‌की इस महान् प्रीतिके प्रति हमलोगोंको आस्था-विश्वास करके सदा परम प्रसन्न होना चाहिये।

× × × ×

भगवान्‌का सौहार्द, भगवान्‌का स्वभाव, भगवान्‌की कृपा, भगवान्‌का प्रेम, भगवान्‌की निज-जनपरायणता एवं प्रेमवशता ऐसी विलक्षण हैं कि उस ओर देखनेपर मनुष्य अपनी सारी कमजोरियों, सारी त्रुटियों तथा सारी भूलोंको भूलकर सचमुच उन्हींमें रम जाता है, अपनेको खो देता है, केवल प्रभु ही रह जाते हैं। भगवान्‌की ऐसी ही प्रेममयी ममता है। भगवान्‌से यही प्रार्थना है कि उनकी इस प्रेममयी ममताकी सदा स्मृति बनी रहे, जिससे जगत्‌का सब कुछ विस्मृत होकर एकमात्र परम प्राणप्रियतम प्रभु ही रह जायँ; न जगत् रहे न जगत्‌को कोई देखनेवाला; न विषय रहे, न विषयासक्ति और न विषयासक्त—

'हेरत हेरत, हे सखी ! हेरन गयो हेराय।'

ढूँढते-ढूँढते ढूँढनेवाला खो गया और जिसे ढूँढ रहा था, केवल वही रह गया।

× × × ×

तुमने भगवान्‌के स्वभावके सम्बन्धमें लिखा, वह तुम्हारा लिखना ठीक ही है। वे कभी अत्यन्त ही कोमल दीखते हैं—फूलसे भी कोमल और कभी वज्रसे भी अधिक कठोर। पर दोनों ही भावोंमें उनके हृदयमें स्नेह-सुधा ही छलकती रहती है—यह हमें दृढ़ विश्वास करना चाहिये। सारा जगत् ही भगवान्‌का है, सभीके प्रति भगवान्‌की समता है। इससे यह कहना कि भगवान्‌के अनेक प्रेमी भक्त हैं, ठीक ही है। अनेक ही नहीं, सभी वास्तवमें भगवान्‌के हैं। परंतु जहाँ भक्त अपनेको केवल भगवान्‌के अर्पण कर देता है, एकमात्र उन्हींको अपना सर्वस्व मानकर प्रेम करता है, उसपर भगवान्‌की समताके साथ ही विशेष ममता हो जाती है। ऐसा भक्त भगवान्‌को वैसे ही वशमें कर लेता है, जैसे सती स्त्री अपने सत्पतिको—

वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा।

अतएव उस क्षेत्रमें जैसे वह प्रेमी भक्त केवल प्रेमास्पद भगवान्‌को ही जानता है, वैसे ही भगवान् भी केवल उसीको जानते हैं तथा उसके अधीन और ऋणी हो जाते हैं—

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।' आदि।

भगवान्‌की स्मृति नित्य बनी रहे, इसके लिये सदा-सर्वदा उनके स्वरूप, गुण तथा लीलाओंका अपने मनके अनुसार चिन्तन करना चाहिये। भगवान् सत्य हैं, सदा हैं, सर्वत्र हैं—इसलिये हम उनकी लीलाओंकी अपने मनसे जैसी कल्पना करेंगे, वैसे ही रूपमें वे सत्य-सत्य अपना अनुभव हमें करा देंगे। हमें प्रत्यक्ष ही सब-कुछ-लीलाके प्रसङ्ग दीखेंगे। तुमको यह चेष्टा करनी चाहिये। यह सत्य है कि तुम्हारे किये कुछ नहीं होगा—ऐसी मान्यता ठीक है; पर भगवान्‌के किये तो सब कुछ हो ही सकता है—इस बातपर विश्वास करके, जरा भी निराश न होकर अपनी जानमें लीला-चिन्तनका प्रयत्न करना और उसमें उत्तरोत्तर स्पष्ट अनुभूति करते रहना।

तुम्हें भगवान्‌के सौहार्द तथा स्नेहपर विश्वास नहीं होता, तुम्हारी दृष्टिसे तुम्हारा यह लिखना ठीक ही है। सौहार्द तथा स्नेहपर विश्वास हो जानेपर निश्चय ही अत्यन्त विलक्षण स्थिति हो जाती है। भगवान् सुहृद् हैं, यह जानते ही शान्ति मिल जाती है—यह सत्य है। परंतु भगवान् परम-प्रेमास्पद, महान् विशाल हृदयके हैं। तुम यह संदेह क्यों करते हो कि 'जब मेरा भगवान्‌के स्नेहपर विश्वास नहीं, तब मेरा जीवन सफल कैसे होगा?' क्या तुम अपनेको भगवान्‌के समर्पित नहीं मानते? समर्पित नहीं अनुभव करते? और यदि समर्पित-जीवन है तो जीवनकी सफलता इससे बढ़कर और क्या होगी? भगवान्‌के समर्पित हो जानेपर सारी चिन्ता स्वयं भगवान् करते हैं। सारा 'योगक्षेम'-वहन वे स्वयं करते हैं। प्रेमीका तो एक ही कार्य रहता है कि निरन्तर उनके मधुरतम तथा पवित्रतम चिन्तनमें डूबे रहना, क्षणमात्रके लिये भी उनका स्मृति-वियोग असह्य हो जाना। शरीर चाहे कहीं रहे, कहीं जाय—प्रियतम प्रभु छायाकी भाँति सदा अन्तरमें घुले-मिले रहते हैं, क्षणभर भी नहीं हटते। पर प्रेमीका यह स्वभाव होता है—वह मिलनमें भी मिलनाकाङ्क्षा करता हुआ व्याकुल रहता है। मिलनेके बाद भी स्मृतिमें डूबा रहता है। पास रहता हुआ भी दूर समझकर पुकारता रहता है। प्रभु प्रेमीके पास उसे असहाय समझकर, दीन समझकर दयामय स्वभाववश सहायता करने नहीं आते। वे निरन्तर उसके प्रेमसे खिंचे रहकर उसके पवित्र निर्मल मधुर प्रेम-सुधारसका आस्वादन करनेके लिये अपनी गरज दौड़े आते हैं और इतने प्रेमरसास्वादनपरायण हो जाते हैं कि एक क्षणके लिये भी

वहाँसे हटना नहीं चाहते। तुम भगवान्‌के इस प्रेम-स्वरूपका अनुभव करो तथा नित्य-निरन्तर उनकी मधुरतम झाँकी करते हुए आनन्दमें डूबे रहो।

× × × ×

निश्चिन्त रहना चाहिये। भगवान् जिसको अपना लेते हैं, वह कभी निराश्रय होता ही नहीं। वे नित्य, सत्य, सनातन, सर्वत्र, सर्वदा हैं। उनका सांनिध्य कभी हटनेवाला है ही नहीं। उनकी कृपा अहैतुकी तथा प्रीति अनन्त है। उन-सरीखे वे ही हैं। वे सदा तुम्हारे हैं, तुम्हारे रहेंगे—इस बातपर विश्वास तथा नित्य इसका मधुरानुभव करते रहना चाहिये। तुमने लिखा, 'कोई सुननेवाला नहीं है;' पर बात ऐसी नहीं है। वे सदा प्रतिक्षण तुम्हारी बात सुनते हैं, तुम्हें देखते हैं, तुममें घुले-मिले रहते हैं, 'चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात'—कभी क्षणभरके लिये भी वे इधर-उधर नहीं जाते। हाँ, कभी जो उनकी अनुभूति नहीं होती है, वह उनकी लीलाका मधुर रसास्वादन अधिक करानेके लिये ही नहीं होती। वियोगकी तीव्र स्मृति मधुमयी होकर वियोग-विषको मधुरतम सुधारसके रूपमें परिणतकर परम मधुर हो जाती है। यह अधीरता श्यामसुन्दरके दर्शन करानेवाली ही होती है। भगवान्‌का विरह-ताप बड़े ही सौभाग्यकी चीज है।

× × × ×

तुम प्रशंसाके योग्य नहीं हो, यह बिल्कुल ठीक है। तुम जिसको 'मैं' समझकर ऐसा लिखते हो, उसकी प्रशंसा कौन करता है। प्रशंसा तो भगवदर्पितहृदय तद्गतचित्त उस प्रेमीकी है, जिसकी प्रशंसा करनेमें भगवान्‌को भी आनन्द मिलता है। प्रेमी भक्तकी प्रशंसा प्रकारान्तरसे उसके भगवान्‌की प्रशंसा है। 'राम न सकहिं नाम गुन गाई।' इसमें 'नाम' की प्रशंसा दीखती है, परंतु प्रकारान्तरसे है रामकी ही प्रशंसा। इसी प्रकार प्रेमीकी प्रशंसा प्रभुकी प्रशंसा होती है। प्रभु अपनी प्रशंसा सीधे न करके प्रेमीके नामपर किया करते हैं। यह भी प्रेमराज्यका एक मधुर लक्षण है।

× × × ×

मनमें सदा खूब प्रसन्न रहना चाहिये। प्रियतम प्रभुको कभी अलग मानना चाहिये ही नहीं। सचमुच वे कभी अलग होते ही नहीं। दिन-रात—आठों पहर हृदयमें बसे रहते हैं। यह प्रेम-वैचित्त्यकी मधुर स्थिति होती है, जो नित्य उनके समीप—अति समीप रहते हुए भी—सदा संस्पर्श प्राप्त होते रहनेपर भी वियोगका अनुभव होता है। वियोग और संयोग—दोनों इस मधुरतम प्रेम-सरिताके तट हैं। कभी इस तटपर, कभी उस तटपर आना-जाना लगा रहता है। इसीसे रसास्वादन, चिन्तन, दर्शनमें तीव्रतर मधुरता आती रहती है—संसारका सर्वथा अभाव हो जाता है। लोगोंके लिये जिस रूपमें संसार है, उस रूपमें वहाँ नहीं रहता। बस, श्यामसुन्दर और उनकी मधुरतम लीला ही रह जाती है—

काँकर-पाथर-ठीकरी भए आरसी मोहि।
प्रेम मधुर लीला निरत, जित-तित देखूँ तोहि॥

इसके अतिरिक्त कभी यदि पूर्व संस्कारवश संसार दीख जाता है तो वह बुरा लगता है, उसको मन ललकारता है कि 'तुम यहाँसे हट जाओ, वहाँ जाओ, जिस हृदयमें श्रीनन्दलाल न बसते हों'। अतएव संसार जो बुरा लगता है—उसमें प्रतिकूलताका जो बोध होता है, यह तो शुभ लक्षण है। मनमें कभी भी निराश नहीं होना चाहिये। अपनी चीजको वे आप देखें-सँभालेंगे। अपने क्यों चिन्ता करें। क्यों अपने दोषोंका चिन्तन करें। दिन-रात उन्हींकी सौन्दर्य-माधुर्य-सुधाका पान करते रहें। हम कैसे

भी हों, कहीं भी रहें, कुछ भी करें, वे प्राण-प्रियतम कभी हमें छोड़ते नहीं, अलग होते नहीं; चाहे हममें प्रेमगन्ध भी न हो, पर उनकी यह सहज प्रीति-पूर्ण कृपा तो हमपर है ही, रहेगी ही । उससे हम कभी वञ्चित हो ही नहीं सकते, यह दृढ़ अनुभव करते रहना चाहिये ।

× × × ×

तुमने लिखा—'मैं प्रभुको निरन्तर याद रक्खूँ, स्वार्थसे भी उनको निरन्तर हृदयमें वसाये रहूँ, कभी भूलूँ नहीं—इतना ही मेरे लिये बहुत है।' यह बहुत ही सुन्दर है। बस, 'स्वार्थ' शब्दका अर्थ होना चाहिये 'श्रीकृष्णप्रभुका सुख'—उनका सुख ही अपना परम 'अर्थ' है। यही स्वार्थ हो और इस स्वार्थसे प्रभुको सदा-सर्वदा हृदयमें वसाकर परम सुखका अनुभव करना—यही प्रियतम भगवान्‌का सुखरूप प्रेम है । ( पुराने पत्रोंसे संगृहीत)

## विक्षोभके भीतर भागवत उपस्थितिका अनुभव

### [ माताजीकी बातचीत ]

( श्रीमाँ, श्रीअरविन्द-आश्रम, पाण्डिचेरी )

प्र०—बुरे वातावरणसे घिरे रहनेपर भी, मानसिक और प्राणिक विक्षोभके भीतर भी क्या भागवत उपस्थिति-का अनुभव किया जा सकता है ?

उ०—तव, जब कि वह वातावरण तुम्हारे अपने अंदर न हो; क्योंकि वैसा रहनेपर यह कठिन होता है। फिर भी, बहुत-से ऐसे लोगोंके उदाहरण हैं जो संदिग्धात्मकसे भी अधिक बुरा जीवन व्यतीत करते थे और जिन्हें दैवी साक्षात्कार हुए। एक पियक्कड़के बारेमें कहा जाता है कि नशेकी हालतमें ही उसे एकाएक भगवान्‌का सम्पर्क प्राप्त हो गया—जिससे उसकी जिंदगी ही बदल गयी और जिसने, मैं यहाँ यह भी बता दूँ, उसे भविष्यमें शराब पीनेसे रोक दिया। किंतु फिर भी, जब उसे भागवत उपस्थितिका अनुभव हुआ, उस समय वह नशेकी हालतमें था। मैं नहीं समझती—यहाँ हम फिर उन्हीं बातोंमें पड़ जाते हैं—मैं नहीं समझती कि भगवान् कोई नैतिकवादी हैं। यह तो मनुष्य है जो नैतिकवादी होता है, भगवान् नहीं। यदि ऐसा हो कि ठीक उसी समय परिस्थितियों-की एक अनुकूलता आ जाय और शायद सत्ताके भीतर एक उद्घाटन हो जाय, तो भगवान्, जो सर्वदा उपस्थित रहते हैं, अपनेको अभिव्यक्त कर देते हैं। जब कि वह साधु या संत, जो अपने महत्त्व और अपनी योग्यताके नशेमें चूर रहता है, गर्व और मिथ्या अभिमानसे भरा रहता है, उसके भीतर भगवान् अभि-व्यक्त हों, इसकी अधिक सम्भावना नहीं; क्योंकि वहाँ भगवान्‌की अभिव्यक्तिके लिये स्थान ही नहीं है। वहाँ उस साधुके महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व और उसके नैतिक मूल्यके अतिरिक्त और कुछका स्थान नहीं होता।

स्वभावतः, एक ऐसी अवस्था है, जब मनुष्य पूर्णतः शुद्ध और पूर्णतः साधु हो सकता है और भगवान्‌के सम्पर्कमें रह सकता है। किंतु तब उसका मतलब है कि वह व्यक्ति पूर्णताकी एक विशेष अवस्थातक पहुँच गया है और अपने व्यक्तिगत महत्त्व और अपनी व्यक्तिगत योग्यताकी भावनाको खो चुका है। मेरे ख्यालसे यह अधिक महत्त्वपूर्ण बात है। भगवान्‌के साथ सम्बन्ध स्थापित करनेमें सबसे बड़ा बाधक है गर्व, और अपनी व्यक्तिगत योग्यता, अपनी व्यक्तिगत क्षमता और अपनी व्यक्तिगत शक्तिकी भावना—व्यक्ति

बहुत बड़ा बन जाता है, इतना बड़ा कि वहाँ भगवान्-के लिये स्थान नहीं रह जाता।

नहीं, एकमात्र सच्ची महत्त्वपूर्ण वस्तु है अभीप्साकी तीव्रता। और यह अभीप्साकी तीव्रता सभी प्रकारकी परिस्थितियोंमें आ सकती है।

दो बातें हैं, जिन्हें सम्मिश्रित नहीं करना चाहिये—कुछ आवश्यकताएँ ( जो, यदि हम जड़ भौतिक पदार्थ-को नियन्त्रणमें लाना चाहते हैं, तो विशुद्ध आवश्यकताएँ हैं ), और तत्पश्चात्, नैतिक धारणाएँ। ये दोनों बिलकुल भिन्न वस्तुएँ हैं। उदाहरणार्थ, व्यक्ति अपने शरीरको विषाक्त बनाने, या मस्तिष्कको मूढ़ बनाने या अपने संकल्पको मिटा देनेसे अपनेको रोक सकता है, इसलिये कि वह अपनी भौतिक चेतनाको अपने वशमें लाना और अपने शरीरको रूपान्तरित करनेमें सक्षम होना चाहता है। किंतु यदि कोई यह सब कुछ इस-लिये करे कि उसके विचारसे, ऐसा करनेसे उसे एक नैतिक श्रेय प्राप्त होगा, तो वह उसे कहीं नहीं पहुँचायेगा, कहीं भी नहीं; क्योंकि इसका उद्देश्य वह नहीं है। यह पूर्णतः व्यावहारिक कारणोंसे ही किया जाता है। उदाहरणार्थ, तुम्हें विष खानेका अभ्यास इसलिये नहीं है कि वह तुम्हें विषाक्त बना देगा। और तब, कुछ ऐसे धीमे असर करनेवाले विष हैं, जिनका लोग सेवन करते हैं ( उन्हें अहानिकर समझकर; क्योंकि उनका असर इतना धीमे-धीमे होता है कि उसका वे आसानीसे पता नहीं पा सकते ) किंतु यदि कोई अपनी शारीरिक क्रियाओंको पूर्णतः अपने वशमें लाना और अपने शरीरकी स्वतः चालित क्रियाओंके भीतर आलोक उतारनेकी क्षमता प्राप्त करना चाहता है, तो उसे इन सब वस्तुओंसे परहेज करना होगा—किंतु नैतिक कारणोंसे नहीं, बिलकुल व्यावहारिक कारणोंसे, योगमें सिद्धि पानेकी दृष्टिसे। इसे यह सोचकर नहीं करना होगा कि इससे पुण्य मिलेगा; और क्योंकि तुम्हें पुण्य प्राप्त होगा, इस-लिये भगवान् बड़े प्रसन्न हो जायँगे और तुम्हारे भीतर अपनेको अभिव्यक्त कर देंगे! भगवान् अपनेको शायद उस व्यक्तिके भी अधिक निकट बोध करते हैं, जिसने गलतियाँ की हैं, जिसे अपनी गलतियोंका भान है और जिसे अपनी दुर्बलताओंका भान है और जो उनसे मुक्त होनेके लिये सच्चे हृदयसे अभीप्सा करता है—भगवान् शायद उस व्यक्तिकी अपेक्षा, जिसने कभी कोई गलती नहीं की और जो अन्य मनुष्योंकी अपेक्षा अपनी बाहरी श्रेष्ठताके भावसे संतुष्ट है, इस व्यक्तिके अधिक निकट हैं। जो भी हो, इससे कोई बहुत अन्तर नहीं आता। जिससे बहुत अन्तर आता है, वह है सचाई, सहजता, अभीप्साकी तीव्रता—आवश्यकता, वह आवश्यकता, जो तुम्हें अभिभूत कर लेती है और जो इतनी प्रबल होती है कि दुनियामें और कुछका कोई मूल्य नहीं रह जाता।

जैसा कि मैं कहीं अन्यत्र समर्पण और उत्सर्गके प्रसङ्गमें कह चुकी हूँ, यदि किसीको किसी वस्तुके लिये पश्चात्ताप होता है, तो इसका यह अर्थ है कि वह आध्यात्मिक चेतनाकी अवस्थामें नहीं है। यदि तुम इसलिये पछताते हो कि तुम अपनी कामनाओंकी तुष्टि नहीं कर पाओगे, तो इसका यह अर्थ है कि वे कामनाएँ, तुम जिस वस्तुकी अभीप्सा करते हो, उससे यदि अधिक नहीं तो कम-से-कम उसके बराबर हैं। तुम कह सकते हो—'कामनाएँ ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनके विषयमें मैं बिलकुल सज्ञान हूँ, जब कि यदि मैं भगवान्-को पानेके लिये अपनी कामनाओंका परित्याग करता हूँ, तो मुझे इस बातका निश्चय नहीं रहता कि मैं भगवान्को पाऊँगा ही, इसीसे मैं इसे उत्सर्ग कहता हूँ।' किंतु मैं इसे सौदेबाजी कहती हूँ! यह भगवान्के साथ सौदेबाजी है। तुम उनसे कहते हो, 'लो और दो; मैं तुम्हें उस आनन्दका चढ़ावा देता हूँ, जो मुझे अपनी कामनाओंकी तुष्टिमें मिलता है

और इसके बदलेमें यह आवश्यक है कि तुम मुझे अपने अंदर तुम्हें अनुभूत करनेका आनन्द प्रदान करो, नहीं तो यह न्यायोचित नहीं होगा।' यह आत्मदान नहीं, सौदेबाजी है।

यह बात मैंने कितनी बार, कितनी बार सुनी है—'मैंने उतनी वस्तुओंका उत्सर्ग किया, इतना प्रयास किया, इतना कष्ट झेला और तब यह देखो, मुझे बदलेमें कुछ भी नहीं मिला।' मैं इसका केवल यही उत्तर दे सकती हूँ—'मुझे इसमें कोई आश्चर्य नहीं प्रतीत होता।'

प्र०—क्या किसी बहुत घमंडी व्यक्तिमें बड़ी अभीप्सा हो सकती है ?

उ०—क्यों नहीं ? कोई बड़ा घमंडी व्यक्ति ठोकरें खा सकता है और तब वह समझदार बन जा सकता है। फिर जब उसे ठोकर लगती है, तब वह उसे जरा जगा दे सकती है ! तब उसमें अभीप्सा आती है। और यदि वह कोई ऐसा व्यक्ति है, जिसकी प्रकृतिमें तीव्रता है और बल है, तो उसकी अभीप्सा सशक्त होती है।

प्र०—और बिना ठोकर खाये ?

उ०—ऐसा हो सकता है। हाँ, तब इस अवस्थामें वह बहुत मिश्रित होगी—किंतु वह मिश्रण तो सदा सब कुछमें होता है। वस्तुओंको साफ होनेके लिये एक लंबे कालकी आवश्यकता होती है। तुम आरम्भ कहींसे भी कर सकते हो, किसी भी स्थिति और किसी भी अवस्थामें। तब कुछ अवस्थाओंमें इसमें बड़ा लंबा समय लगता है; क्योंकि मिश्रण इस तरहका होता है कि प्रत्येक अगले पगके साथ तुम आधा पग पीछे खिसकते हो। किंतु इसका कोई कारण नहीं होता। वस्तुतः क्योंकि जीवन और व्यक्तिगत अस्तित्वका वास्तविक उद्देश्य भगवान्‌को जानना है, यह ( अभीप्सा ) कहीं भी, किसी भी समयमें ऊपर आ सकती है। यदि थोड़ी भी सम्भावना हो तो यह ऊपर आ जाती है। स्पष्ट है कि यदि कोई पूर्णतः तुष्ट रहे, तो यह बाधक होता है; क्योंकि तब व्यक्ति आत्मतुष्टिकी भावनामें सोया रहता है। किंतु यह अवस्था टिकती नहीं। जीवनमें, जगत्, जैसा कि आज है, उसमें कोई अहंभावमय तुष्टि टिक नहीं सकती, और जबतक यह टिकी रहती है, तबतक, हाँ, व्यक्ति टस-से-मस नहीं होता, बिलकुल अभीप्सा नहीं कर सकता। पर यह अवस्था टिकती नहीं।

## प्रेमीकी स्थिति

जब तें प्रीति स्याम सों कीनी।
ता दिन तें मेरे इन नैननि नेकहु नींद न लीनी॥
सदा रहत चित चाकु चढ़्यौ-सौ, और कछू न सुहाय।
मन में रहै उपाय मिलन कौ, इहै बिचारत जाय॥
'परमानंद' मरम की बातैं काहू सौं नहिं कहियै।
जैसें बिथा मूक बालक की अपनें तन-मन सहियै॥

# श्रीश्रीराम-नाम-माहात्म्य

( लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ महाराज )

[ गताङ्क पृ० ८३३ से आगे ]

### वराहपुराणमें—

दैवाच्छूकरशावकेन निहतो म्लेच्छो जराजर्जरो
हारामेण हतोऽस्मि भूमिपतितो जल्पंस्तनुं त्यक्तवान् ।
तीर्णो गोष्पदवद् भवार्णवमहो नाम्नः प्रभावाद्धरेः
किं चित्रं यदि रामनामरसिकास्ते यान्ति रामास्पदम् ॥

"दैवात् शूकर-शावकके द्वारा जरा-जर्जरित एक म्लेच्छ मारा गया । 'हरामके द्वारा मैं मारा गया'—कहते हुए वह भूतलपर गिरकर पञ्चत्वको प्राप्त हुआ । आश्चर्यकी बात है कि 'हराम' शब्दके अन्तर्गत 'राम' नामके प्रभावसे वह भी गोष्पदके समान इस भयानक भवसागरके पार चला गया । तो फिर यदि रामनामके रसिक रामके परमपदको प्राप्त करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ।"

### स्कन्दपुराणमें—

सर्वेऽवताराः श्रीरामनामशक्तिसमुद्भवाः ।
सत्यं वदामि देवेशि नाममाहात्म्यमद्भुतम् ॥

### तत्रैव—

इति पृष्टस्तदा शम्भुरुवाच हरिसेवकः ।
हरेर्नामसहस्राणां सारं ध्यायामि नित्यशः ॥

× × ×

वेदसारमिदं नित्यं द्व्यक्षरं सततोद्यतम् ।
निर्मलं ह्यमृतं शान्तं सद्रूपममृतोपमम् ॥

"सभी अवतार श्रीरामनामकी शक्तिसे उत्पन्न होते हैं । हे देवेशि ! मैं सत्य कहता हूँ, नामका अद्भुत माहात्म्य है ।"

"इस प्रकार पूछे जानेपर हरिसेवक श्रीशङ्करजी बोले—'मैं सहस्रों हरिनामके सारका नित्य ध्यान करता हूँ ।"

"इस वेदोंके सारस्वरूप, जीवोंके कल्याणके लिये सतत उद्यत, निर्मल अमृतस्वरूप, शान्त और सद्रूप सुधोपम द्व्यक्षर 'राम' नामका मैं नित्य जप करता हूँ ।"

× × ×

रामेति द्व्यक्षरो मन्त्रो मन्त्रकोटिशताधिकः ॥
सर्वासां प्रकृतीनां च कथितः पापनाशकः ।
चातुर्मास्येऽथ सम्प्राप्ते सोऽप्यनन्तफलप्रदः ॥

× × ×

न रामादधिकं किंचित् पठनं जगतीतले ।
रामनामाश्रया ये वै न तेषां यमयातना ॥

"'राम' यह दो अक्षरका मन्त्र शतकोटि मन्त्रोंसे बढ़कर है । यह सारे प्रजावर्गके पापोंका नाश करनेवाला कहा गया है तथा चातुर्मास्यमें रामनामका जप अनन्त फल प्रदान करता है ।

"रामनामसे बढ़कर इस पृथ्वीपर कुछ भी पठनीय ( जपनीय ) नहीं है । जो लोग रामनामका आश्रय लेते हैं, उनको यम-यातना नहीं भोगनी पड़ती ।"

रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ।
अन्तरात्मस्वरूपेण यच्च रामेति कथ्यते ॥
रामेति मन्त्रराजोऽयं भवव्याधिनिषूदकः ।
रणे विजयदश्चापि सर्वकामार्थसाधकः ॥
सर्वतीर्थफलः प्रोक्तो विप्राणामपि कामदः ।
रामचन्द्रेति रामेति रामेति समुदाहृतः ॥
द्व्यक्षरो मन्त्रराजोऽयं सर्वकार्यकरो भुवि ।
देवा अपि प्रगायन्ति रामनाम गुणाकरम् ॥
तस्मात्त्वमपि देवेशि रामनाम सदा वद ।
रामनाम जपेद् यो वै मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥
सहस्रनामजं पुण्यं रामनाम्नैव जायते ।
चातुर्मास्ये विशेषेण तत्पुण्यं दशधोत्तरम् ॥
हीनजातिप्रजातानां महद्दहति पातकम् ॥

रामो ह्ययं विश्वमिदं समग्रं
स्वतेजसा व्याप्य जनान्तरात्मना ।
पुनाति जन्मान्तरपातकानि
स्थूलानि सूक्ष्माणि क्षणाच्च दग्ध्वा ॥

"राम स्थावर-जंगम सभी भूतोंमें अन्तरात्मस्वरूपसे रमण करते हैं, इसी कारण 'राम' कहलाते हैं ।

"'राम'—यह मन्त्रराज भवरोग-विनाशक है, समरमें विजय प्रदान करता है और सभी कार्यों एवं प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाला है। उत्तमरूपसे उच्चारित 'रामचन्द्र' अथवा 'राम-राम'—यह नाम सभी तीर्थोंके सेवनका फल देनेवाला तथा विप्रोंके लिये कामद—कामनाओंको पूर्ण करनेवाला कहा गया है।

"इस भूतलमें यह द्व्यक्षर मन्त्रराज 'राम'नाम सब कार्य करता है। देवगण भी गुणाकर रामनामका सर्वतोभावेन गान करते हैं। हे देवेशि ! इस कारण तुम भी रामनामका सतत गान करो। जो भी राम-नामका जप करता है, वह सारे पापोंसे मुक्त हो जाता है।

"रामनामसे ही सहस्रनामजपका पुण्य प्राप्त होता है। विशेषतः चातुर्मास्यमें उससे दसगुना अधिक पुण्य होता है। हीन जातिमें उत्पन्न प्राणियोंके भी महान् पातक रामनामके जपसे भस्मीभूत हो जाते हैं।

"ये श्रीराम ही सबके अन्तरात्माके रूपमें अपने तेजके द्वारा इस सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त करके अवस्थित हैं। जन्म-जन्मान्तरके सूक्ष्म-स्थूल सारे पापोंको क्षणमात्रमें भस्मीभूत करके वे प्राणीको पवित्र कर देते हैं।"

स्कन्दपुराण ब्रह्मखण्ड, धर्मारण्यखण्डके ३४वें अध्यायमें—

अशने शयने पाने गमने चोपवेशने।
सुखे वाप्यथवा दुःखे रामचन्द्रं समुच्चरेत् ॥
न तस्य दुःखदौर्भाग्यं नाधिव्याधिभयं भवेत्।
रामेति नाम्ना मुच्येत पापाद् वै दारुणादपि।
नरकं नहि गच्छेत गतिं प्राप्नोति शाश्वतीम् ॥
आकृष्टिः कृतचेतसां सुमहतामुच्चाटनं चांहसा-
माचाण्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मोक्षश्रियः।
नो दीक्षां न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीरामनामात्मकः ॥
श्रीरामः शरणं समस्तजगतां रामं विना का गती
रामेण प्रतिहन्यते कलिमलं रामाय कार्यं नमः।
रामात् त्रस्यति कालभीमभुजगो रामस्य सर्वं वशे
रामे भक्तिरखण्डिता भवतु मे राम त्वमेवाश्रयः ॥

'भोजन करते समय, सोते समय, पानी पीते समय, चलते और बैठते समय, सुख अथवा दुःखमें राम-नामका उच्चारण करता रहे। इससे मनुष्यको दुःख-दुर्दैवका सामना नहीं करना पड़ता, आधि-व्याधिका भय नहीं होता। राम-नामके जपसे मनुष्य दारुण पापसे भी मुक्त हो जाता है, वह नरकमें न जाकर शाश्वत मुक्तिको प्राप्त करता है। प्रज्ञावान् पुरुषोंके चित्तको आकृष्ट करनेवाले, बड़े-से-बड़े पापोंका उच्चाटन कर देनेवाले, चाण्डालपर्यन्त वाक्शक्ति-सम्पन्न जीवमात्रके लिये सुलभ तथा मोक्षश्रीको करनेवाले श्रीराम-नामरूप मन्त्रके लिये किसी प्रकारकी तान्त्रिक या वैदिक दीक्षा, दक्षिणा या पुरश्चरणादि विधिकी तनिक भी अपेक्षा नहीं होती। यह मन्त्र रसनाके स्पर्शमात्रसे सारे फल देता है।

"श्रीराम समस्त जगत्के रक्षक हैं, रामके बिना जीवके लिये क्या अन्य कोई गति है ? राम सारे कलिकल्मषका नाश करते हैं, रामको नमस्कार करना चाहिये। कालरूपी भयंकर भुजंगम रामसे डरता रहता है। सब रामके वशमें हैं। राममें मेरी अखण्डिता भक्ति हो। हे राम ! तुम ही मेरे आश्रय हो।"

### वामनपुराणमें—

परदाररतो वापि परापकृतिकारकः।
स शुद्धो मुक्तिमायाति रामनामानुकीर्तनात् ॥

"परदारानुरक्त अथवा परापकार करनेवाला मनुष्य भी रामनामका निरन्तर कीर्तन करते रहनेसे शुद्ध होकर मुक्तिको प्राप्त कर लेता है।"

### कूर्मपुराणमें—

गोप्याद् गोप्यतमं भद्रे सर्वस्वं जीवनं मम।
धिक्कृतं तमहं मन्ये सत्यं हि प्राणवल्लभे।
यज्जिह्वाग्रे न श्रीरामनाम संराजते सदा ॥

"हे भद्रे ! गुह्यसे भी गुह्यतम श्रीरामनाम मेरा सर्वस्व ही नहीं, मेरा जीवन है। हे प्राणवल्लभे ! जिसकी रसनाके अग्रभागमें सर्वदा श्रीराम-नाम नहीं विराजता, उसको मैं सचमुच निन्दित समझता हूँ।"

### मत्स्यपुराणमें—

ध्येयं ज्ञेयं पदं सेव्यं रामनामाक्षरं मुने।
सर्वसिद्धान्तसारं हि सुखसौभाग्यकारणम् ॥
नामैव परमं ज्ञानं ध्यानं योगस्तथा रतिः।
विज्ञानं परमं गुह्यं रामनामैव केवलम् ॥

"हे मुने ! सब सिद्धान्तोंका सार यह है कि सुख और सौभाग्य प्रदान करनेवाला दो अक्षरका रामनाम ही ध्यान करनेयोग्य है, ज्ञातव्य है और परम सेव्य है। नाम ही परम ज्ञान,

ध्यान, योग तथा अनुरक्ति है। परम गोपनीय विज्ञान केवल रामनामको जानो।''

**गरुडपुराणमें—**

श्रीराम राम रामेति ये वदन्त्यपि पापिनः।
पापकोटिसहस्रेभ्यस्तेषामुत्तरणं ध्रुवम्॥
कलौ संकीर्तनाद्देवि सर्वपापं व्यपोहति।
तस्माच्छ्रीरामनाम्नस्तु कार्यं संकीर्तनं परम्॥

''पापी होकर भी जो लोग 'श्रीराम राम राम' इस प्रकार राम-नामका उच्चारण करते हैं, वे सहस्रकोटि पापोंसे निश्चय ही मुक्त हो जाते हैं। हे देवि! कलियुगमें नाम-संकीर्तनसे सारे पाप निर्मूल हो जाते हैं। अतएव इस श्रेष्ठ श्रीरामनामका संकीर्तन परम कर्तव्य है।''

**ब्रह्माण्डपुराणमें—**

रामनामप्रभा दिव्या वेदवेदान्तपारगा।
येषां स्वान्ते सदा भाति ते पूज्या भुवनत्रये॥

'वेद और वेदान्तकी सीमाको भी लाँघ जानेवाली राम-नामकी दिव्य प्रभा जिसके हृदयको सदा आलोकित करती है, वे त्रिभुवनमें पूजनीय हैं।'

## उपपुराण—

**गणेशपुराणमें—**

अहं पूज्योऽभवं लोके श्रीमन्नामानुकीर्तनात्।
अतः श्रीरामनाम्नस्तु कीर्तनं सर्वदोचितम्॥
रामनाम परं ध्येयं ज्ञेयं पेयमहर्निशम्।
सर्वदा सद्भिरित्युक्तं पूर्वं मां जगदीश्वरैः॥

श्रीगणेशजी कहते हैं—'मैं श्रीमद् राम-नामका निरन्तर कीर्तन करनेके कारण ही जगत्में सर्वप्रथम पूजनीय बना हूँ। अतएव श्रीराम-नामका कीर्तन करना सदा ही वाञ्छनीय है।'

'पूर्वकालमें मुझसे श्रेष्ठ जगदीश्वरोंने राम-नामको परम ध्येय, ज्ञेय तथा दिवानिशि पेय बतलाया है।'

**वायुपुराणमें—**

यातना यमलोकेषु तावदेव भवेन्नृणाम्।
यावन्न भजते प्रीत्या रामनाम परात्परम्॥

'यमलोकमें जीवको तभीतक यन्त्रणा भोगनी पड़ती है, जबतक वह प्रेमसहित परात्पर रामनामका भजन नहीं करता।'

सर्वेषामवताराणां कारणं परमाद्भुतम्।
श्रीमद् रामेति नामैव कथ्यते सद्भिरन्वहम्॥

'साधुजनोंने सदा ही श्रीमद् राम-नामको सब अवतारोंका परम अद्भुत कारण बतलाया है।'

**नरसिंहपुराणमें—**

रामनामरता नारी सुतं सौभाग्यमीप्सितम्।
भर्तुः प्रियत्वं लभते न वैधव्यं कदाचन॥
पतिव्रतानां सर्वासां रामनामानुकीर्तनम्।
ऐहिकामुष्मिकं सौख्यदायकं सर्वशो मुने॥

'राम-नाममें अनुरागवती रमणी पुत्र, अभिवाञ्छित सौभाग्य तथा पतिका प्रियत्व प्राप्त करती है; वह कभी विधवा नहीं होती।

'हे मुने! समस्त पतिव्रता नारियोंके लिये राम-नामकीर्तन इस लोक और परलोकमें निखिल सुखदायक है।'

**अन्यत्र भी—**

रामनाम जपतां कुतो भयं
सर्वतापशमनैकभेषजम्।
पश्य तात मम गात्रसंगतः
पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥

प्रह्लादजी कहते हैं—'सारे तापोंको शान्त करनेकी एकमात्र औषध राम-नामका जप करनेवालेको भय कहाँ? पिताजी! आप देखिये तो, मेरे शरीरसे संलग्न अग्नि भी इस समय सलिलके समान शैत्य प्रदान कर रही है।'

**बृहद्विष्णुपुराणमें—**

रामरामेति यो नित्यं मधुरं जपति क्षणम्।
सर्वसिद्धिं समाप्नोति रामनामानुभावतः॥

''जो मनुष्य प्रतिदिन क्षणमात्र भी 'राम-राम'—इस मधुर नामका जप करता है, राम-नामके प्रभावसे उसे सभी सिद्धियाँ सम्यक्‌रूपसे प्राप्त होती हैं।''

**बृहन्नारदीयपुराणमें—**

स्मरणात् कीर्तनाच्चैव श्रवणाल्लेखनादपि।
दर्शनाद्धारणादेव रामनामाखिलेष्टदम्॥

'राम-नाम स्मरण अथवा कीर्तन या श्रवण अथवा लेखन या दर्शन या धारण करनेपर भी इस लोकमें तथा परलोकमें निखिल ईप्सित फल प्रदान करता है।'

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च स्तेयी विश्वासघातकः।
दुहित्रासंगमी दुष्टो भ्रातृपत्नीरतस्तथा॥
विप्रदाररतो यस्तु विप्रवित्तापहारकः।
परापवादकारी च बालघाती च वृद्धहा॥

स्त्रीजनानां च संघाती हिंसकः सर्वदेहिनाम्।
मातृगामी गुरुद्रोही रामनाम्ना विशुध्यति ॥
महाचिन्तातुरो यस्तु महाव्याधिसमाकुलः।
जरापस्मारकुष्ठादिमहारोगैः प्रपीडितः ॥
महोत्पातमहारिष्टमहाक्रूरग्रहार्दितः।
महाशोकाग्निसंतप्तः सर्वलोकैस्तिरस्कृतः ॥
महानिन्द्यो निरालम्बो महादुर्भाग्यदुःखितः।
महादरिद्रः संतापी सुखी स्याद् रामकीर्तनात् ॥
कामक्रोधातुरः पापी लोभमोहमदोद्धतः।
रागद्वेषादिभिर्दग्धो महादुर्वासनावृतः ॥
षड्भिरूर्मिभिराक्रान्तः षड्विकारैर्विखिद्यते।
मनोरागकषायाद्यैर्व्याकुलः ससुपद्रवैः ॥
अन्यैश्च विविधोत्पातैर्दारुणैरतिदुःखितः।
रामनामानुभावेन परानन्दमवाप्नुयात् ॥

'मित्र-द्रोही, कृतघ्न, चोर, विश्वासघाती, पुत्री-गामी, दुष्ट, भ्रातृपत्नीरत, विप्रपत्नीरत, विप्रवित्तापहारक, परनिन्दक, बालघाती, वृद्धहत्याकारी, नारीकी हत्या करनेवाला, सर्व-प्राणियोंकी हिंसा करनेवाला, मातृगामी, गुरुद्रोही—ये सब राम-नामसे विशुद्ध हो जाते हैं।

'जो मनुष्य महाचिन्ताग्रस्त हो, महान् व्याधिसे व्याकुल हो, ज्वर-अपस्मार-कुष्ठ आदि महारोगोंसे पीड़ित हो, महोत्पात, महारिष्ट एवं महाक्रूर ग्रहोंद्वारा पीड़ित हो, महान् शोकाग्निसे संतप्त हो, सारे समाजसे तिरस्कृत हो, अत्यधिक निन्दनीय, अवलम्बनशून्य हो, महादुर्भाग्यसे दुःखित हो, महादारिद्र्यसे ग्रस्त हो, मनस्तापयुक्त हो, वह भी रामनामके कीर्तनसे सुखी हो जाता है।

'काम-क्रोधसे आतुर, पापी, लोभ-मोह-मदसे अत्यधिक उद्धत, रागद्वेषादिसे दग्ध, महादुर्वासनाओंसे समाच्छन्न, षड् ऊर्मियोंसे* आक्रान्त, षड्विकारों† द्वारा विशेष-रूपसे खिन्न, कष्टप्रद उपद्रवों और रागद्वेषादिसे व्याकुल तथा अन्य विविध भयानक उत्पातोंसे अत्यन्त दुःखित व्यक्ति भी राम-नामके प्रभावसे परमानन्दको प्राप्त होता है।'

### नन्दिपुराणमें—

सर्वदा सर्वकालेषु ये च कुर्वन्ति पातकम्।
रामनामजपं कृत्वा यान्ति धाम सनातनम् ॥

'जो लोग सदा-सर्वदा पाप करते हैं, वे राम-नामका जप करके सनातन—चिरस्थायीधाम परम पदको जाते हैं।'

### आदित्यपुराणमें—

रामनामजपादेव भासकोऽहं विशेषतः।
तथैव सर्वलोकानां क्रमणे शक्तिमानहम् ॥
नामविश्रम्भहीनानां साधनान्तरकल्पना।
कृता महर्षिभिः सर्वैः परानन्दैकनिष्ठितैः ॥

सूर्यनारायण कहते हैं—'विशेषतः राम-नामका जप करनेके कारण ही मैं जगत्का प्रकाशक हूँ तथा सम्पूर्ण लोकोंका पर्यटन करनेमें मैं समर्थ हूँ।'

'एकमात्र परमानन्दमें स्थित सारे महर्षिगणने भगवन्नाममें विश्वासहीन लोगोंके लिये अन्य साधनोंकी कल्पना की है।'

### आङ्गिरसपुराणमें—

श्रीरामेति मनुष्यो यः समुच्चरति सर्वदा।
जीवन्मुक्तो भवेत्सोऽपि साक्षाद्रामात्मकः सुधीः ॥

'जो मनुष्य सर्वदा श्रीराम-नामका उच्चारण करता है, वह साक्षात् रामात्मक—राममय, सुबुद्धि और जीवन्मुक्त हो जाता है।'

### शुकपुराणमें—

यत्प्रभावं समासाद्य शुको ब्रह्मर्षिसत्तमः।
जपस्व तन्महामन्त्रं रामनाम रसायनम् ॥

'जिसके प्रभावको सम्यक्रूपसे प्राप्तकर शुकदेवजी श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि हुए हैं, उस रसायनरूप राम-नाम-महामन्त्रका जप करो।'

### लघुभागवतमें—

किं तात वेदागमयोगशास्त्रै-
स्तीर्थादिकैरन्यकृतैः प्रयोजनम्।
यद्यात्मनो वाञ्छसि मुक्तिकारणं
श्रीरामरामेति निरन्तरं रट ॥

''हे वत्स! वेदपाठ, आगमोंका अनुशीलन, योगाभ्यास, शास्त्रचर्चा तथा तीर्थसेवन आदि अन्य साधनोंका क्या प्रयोजन? यदि तुम मुक्तिके कारणकी इच्छा करते हो, तो निरन्तर 'श्रीराम-राम'—इस नामकी रटना करो।''

### कालिकापुराणमें—

रामेत्यभिहिते देवे परात्मनि निरामये।
असंख्यमखतीर्थानां फलं तेषां भवेद् ध्रुवम् ॥

''निरामय परमात्मा ज्योतिर्मय 'राम' नामका उच्चारण करनेसे नाम लेनेवालोंको निश्चयपूर्वक अगण्य मखों (यज्ञों) तथा तीर्थोंका फल प्राप्त होता है।''

---

* भूख-प्यास, शोक-मोह और जरा-मृत्यु—ये छः ऊर्मियाँ हैं। † काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—ये छः विकार हैं।

# अन्नका महत्त्व

## [ पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश ]

( प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी ऐडवोकेट )

सभी प्राणी अन्न खाते हैं और यह समझते हैं कि बिना अन्न खाये हम जीवित नहीं रह सकते। मनुष्य ही क्यों, अन्य प्राणियोंके लिये भी अन्न ( आहार ) अनिवार्य है; लेकिन अन्नकी महत्तापर सबका ध्यान नहीं जाता। 'अन्न' संस्कृत भाषाका शब्द है, जिसकी व्याख्या निम्न प्रकार है—

अद्यते अत्ति च इति अन्नम्।

इसका अर्थ है कि अन्न सभी प्राणी खाते हैं, साथ ही अन्न भी सभी प्राणियोंको खा जाता है और अन्तमें सबको अपनेमें विलीन कर लेता है। अन्न सब प्राणियोंका भोजन है, इसे हम पूर्ण तरह समझते हैं; किंतु अन्न सबको खाकर अपनेमें विलीन कर लेता है इस बातको हम नहीं समझते। अन्न किस प्रकार सबको खाकर अपनेमें विलीन कर लेता है, यह विचारणीय प्रश्न है। अन्नका उद्गमस्थान पृथ्वी है, पृथ्वीसे ही अन्न उत्पन्न होता है और हमारे मरणोपरान्त हमारी भी अन्तिम गति इस पृथ्वीमें ही होती है। किसी-का शव पृथ्वीमें गाड़ा जाता है और किसीके शवका इसी पृथ्वीपर दाहसंस्कार होता है। इस प्रकार अन्नके उद्गमस्थानमें ही हमारी भी अन्तिम गति होती है। इसके अतिरिक्त एक भाव और भी है। हमारी मृत्युके अन्यान्य कारण भले ही नजर आयें, लेकिन उन कारणोंमें एक कारण हमारे भोजनसे भी सम्बन्ध रखता है, जिसके द्वारा अन्त-समयमें हमारी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार अन्न हमें जिलाता भी है और अन्तमें अन्न हमें खाकर अपनेमें विलीन भी कर लेता है।

उपनिषत्-कालमें अन्नके विषयमें कुछ विचार हुआ है। तैत्तिरीयोपनिषद्में एक मन्त्र है, जिसका भी अर्थ जानना आवश्यक है—

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवी१श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्न१ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते। ( २। २। १ )

भावार्थ इसका यह है कि पृथ्वीका आश्रय लेकर रहनेवाले जो भी प्राणी हैं, वे सब अन्नके द्वारा ही उत्पन्न होते और अन्नसे ही जीते हैं और अन्तमें इस अन्नमें ही विलीन हो जाते हैं। अन्न ही सब भूतोंमें श्रेष्ठ है, अतएव सर्वौषधरूप कहा गया है। जैसे ब्रह्म ही जगत्को उत्पन्न करता, पालता और अन्तमें संहार करता है, ठीक उसी प्रकार अन्न ही सभी प्राणियोंको उत्पन्न करता है, पालता है और अन्तमें संहार करके अपनेमें विलीन कर लेता है। इसलिये अन्नको ब्रह्म ही जानना और मानना आवश्यक है और अन्नकी तुलना ब्रह्मसे की गयी है।

इसी उपनिषद्में एक और भी प्रसङ्ग है—एक बार भृगुऋषिको परमात्माके तत्त्वको जाननेकी उत्कट अभिलाषा हुई और वे अपने पिता वरुणके पास गये। वरुणने भी परमात्माके तत्त्वको जाननेके लिये उन्हें तप करनेको कहा तथा तपके द्वारा भृगुने जो प्रारम्भिक अनुभव किया, वह इस प्रकार है—

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। ( ३। २। १ )

इसका भाव भी वैसा ही है, जैसा पहले कहा जा चुका है। भृगुने अन्नको ही ब्रह्म जाना; क्योंकि

अन्नसे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, अन्नसे ही वे जीते हैं और अन्तमें प्रयाणके समय वे अन्नमें ही प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्मके गुण अन्नके द्वारा प्रकट होते हैं, अतएव अन्नको ब्रह्म ही माना गया है।

इस अन्न-ब्रह्मसे हमारे शरीरका सीधा सम्बन्ध है; किंतु इस सम्बन्धपर हम पूर्णरूपेण विचार नहीं करते। यदि विचार किया जाय कि अन्न-भोजनके द्वारा हमारा ब्रह्मसे सम्बन्ध हो रहा है तो हमारे शारीरिक कर्म सभी भगवन्मय हो जायँ। जब हम भोजन करें हमें यह हृदयंगम करना चाहिये कि हम साक्षात् ईश्वरका प्रसाद पा रहे हैं। इस प्रकारसे अन्न-भोजन करनेवाले एक प्रकारका यज्ञ करते हैं और यज्ञ करनेवालेके सब पाप छूट जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णका वचन है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
( ३। १३ )

'यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं और जो बिना भगवान्‌को अर्पित किये अपना ही पेट भरते हैं, वे एक प्रकारसे पाप खाते हैं।' इसलिये हमें भगवत्समर्पणके साथ-साथ भगवान्‌का स्मरण करते हुए अन्नका भोजन करना चाहिये।

भोजनका सम्बन्ध चूँकि हमारे शरीरसे है और शरीरसे ही हमें सारे धर्म-कर्म करने हैं, अतएव भोजन कब कितना और कैसे करना चाहिये ताकि हमारा शरीर नीरोग रहे—इसपर धार्मिक ग्रन्थोंसे लेकर आयुर्वेदके ग्रन्थोंतकमें विस्तृत विवरण है। और हम भोजन ही न करते रहें, अतएव साथ-साथ हमें उपवासकी भी विशेष महत्ता बतलायी गयी है। हमारे शरीरकी जो शक्ति अन्नके पाचनमें व्यय होती है, वही शक्ति उपवासके द्वारा शारीरिक व्याधियोंको दूर करती है और यह बात सर्व-साधारणको सदा स्मरण रखनी चाहिये। जैसे भोजन हमारे शरीरके लिये आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार समय-समयपर उपवासकी भी महत्ता है और इसकी विशेषता वही व्यक्ति ठीक-ठीक अनुभव कर सकता है, जो ऐसा रहन-सहन अपना बनाये रखता है। शास्त्रोंमें मिताहारकी भी बड़ी महिमा कही गयी है—

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः।
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते॥

'बहुत रूखा-सूखा नहीं खाना चाहिये। इतना ही नहीं, हमारा आहार मधुर भी होना चाहिये और वह भी उतना खाना चाहिये जिससे हमारे पेटका चौथा अंश खाली रहे। इस प्रकार भोजन करनेवालेका सदा शुभ होता है और वह सदा शरीरसे सुखी रहता है। इसीको मिताहार कहा जाता है, जो यौगिक क्रियाओंमें अत्यन्त आवश्यक माना गया है।'

भोजनसे लेकर अन्यान्य कार्योंतक जो भी हम प्रतिदिन अपने शरीरद्वारा करते हैं, उसका सम्बन्ध भगवान्‌से बना रहे। इस विषयमें भगवद्गीतामें श्रीकृष्णभगवान्‌ने स्वयं एक श्लोकमें बतलाया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
( ९। २७ )

'जो कुछ तुम करो, जो खाओ, जो भी यज्ञ करो या जो कुछ दान करो, वह सब मुझे अर्पण कर दो।' यह बात अर्जुनके माध्यमसे श्रीकृष्ण हम सभीसे कहते हैं। भाव यह है कि जैसे हमारे शरीरका सीधा सम्बन्ध भगवान्‌से है, उसी प्रकार हमारी अन्यान्य क्रियाओंका भी सम्बन्ध भगवान्‌से होते रहना चाहिये। यही वास्तविक यज्ञ और तप है और तभी हम अपनेको भगवन्मय बना सकते हैं।

# 'श्री भगवन्नाम-कौमुदी' के कुछ निष्कर्ष—२

( लेखक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती )

[ गताङ्क पृष्ठ ८३४से आगे ]

प्रश्न यह है कि नाम-संकीर्तन पापक्षयका स्वयं स्वतन्त्र साधन है अथवा किसी श्रेष्ठ साधनका अङ्ग है। अवश्य ही नाम-कीर्तन-महिमाके अर्थवादत्वका निराकरण कर देनेसे इस प्रश्नका उत्तर हो जाता है, तथापि दूसरे आक्षेपोंका निरसन करके अपने सिद्धान्तको अत्यन्त दृढ़ करना भी स्थूणा-निखनन-न्याय*से युक्तियुक्त है।

## संगति कैसे लगायी जाय ?

जहाँ मन्वादिप्रणीत स्मृतियों और पुराण-वचनोंमें विरोध प्राप्त हो, वहाँ किस रीतिसे संगति लगानी चाहिये ? उदाहरणार्थ—मन्वादि-स्मृतियोंमें उपदिष्ट एवं पुराणोंमें प्रतिपादित पाप-प्रायश्चित्तोंमें विरोध देखनेमें आता है। ऐसी स्थितिमें क्या दोनोंमें विकल्प है ? अर्थात् पापक्षयके उद्देश्यसे मन्वादिके द्वारा आदिष्ट अथवा पुराणोंके द्वारा उपदिष्ट प्रायश्चित्तोंमेंसे किसी एकको कर लेना चाहिये ? बारह वर्षके व्रत और नामोच्चारणमात्रमें तो महान् अन्तर है। दूसरी व्यवस्था यह हो सकती है कि दोनोंका समुच्चय कर लिया जाय अर्थात् मन्वादिसम्मत प्रायश्चित्त और पुराणादिसम्मत भगवन्नाम-कीर्तन—दोनोंका अनुष्ठान किया जाय, केवल एकसे पाप-क्षय नहीं हो सकता। तीसरी विधि यह हो सकती है कि किसी अधिकारीके लिये नाम-कीर्तन पापक्षयका साधन हो और किसी अधिकारीके लिये मन्वादिप्रोक्त प्रायश्चित्त। इसका नाम 'व्यवस्था' है। इस विधामें अधिकारीका निर्णय अपेक्षित है। इसमें संदेह नहीं कि भगवन्नामका माहात्म्य-श्रवण सबके लिये नित्यकर्मके समान है। स्मृतियोंके समान इसका मूल भी वेद ही है। इसको वैकल्पिक बना देना अथवा किसी विशेष प्रकारके अधिकारीके लिये निश्चित कर देना, शास्त्रके शब्दोंकी स्वारसिक व्याख्या नहीं है। अतः विकल्प और व्यवस्था—इन दोनोंके द्वारा नाम-संकीर्तनकी सीमाको संकीर्ण बनाना उचित नहीं।

अब रही बात समुच्चयकी अर्थात् इस सिद्धान्तकी कि प्रायश्चित्त और संकीर्तन दोनों मिलकर पापक्षय करते हैं, अलग-अलग नहीं। इस सम्बन्धमें हमारा यह निश्चय है कि नाम-संकीर्तन पापक्षयका निरपेक्ष साधन है। यदि उसे मन्वादिप्रोक्त प्रायश्चित्तोंके सापेक्ष माना जायगा तो पूर्ववत् ज्यों-का-त्यों शास्त्र-वचनोंका स्वारस्य-भङ्ग बना ही रहेगा।

## क्या संकीर्तन प्रायश्चित्तका अङ्ग है ?

इसमें संदेह नहीं कि कहीं-कहीं ऐसे वचन मिलते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि नाम-संकीर्तनादिरूप भक्ति प्रायश्चित्तका अङ्ग है। उदाहरणके लिये भागवतमें आये हुए 'नारायणसे पराङ्मुखको प्रायश्चित्त पवित्र नहीं कर सकते', 'नाम-संकीर्तन यज्ञ-यागादिके छिद्र अथवा हीनाङ्गको पूर्ण कर देता है', 'जप-होम आदिको भगवद्भक्ति सफल बनाती है' इत्यादि वचनोंसे सिद्ध होता है कि नाम-संकीर्तन, नाम-स्मरणादि सभी कर्मोंके अङ्ग हैं। प्रायश्चित्त भी कर्मोंके ही अन्तर्गत हैं, अतः नामसंकीर्तन प्रायश्चित्तका अङ्ग होकर ही पापक्षयका अङ्ग है, स्वतन्त्र नहीं। परंतु यह निर्णय न शास्त्र-संगत है और न युक्तियुक्त; अतः हम इस विषयपर विचार प्रारम्भ करते हैं।

---

* जमीनमें खूँटा गाड़ते समय यह देखनेके लिये कि वह अच्छी तरह धँस गया है, उसे बार-बार उखाड़ा जाता है। इसीको स्थूणानिखनन-न्याय कहते हैं।

## भक्ति कर्मकक्षामें नहीं है !

परमार्थ यह है कि भगवद्भक्ति और ब्रह्मविद्या एक कक्षाकी हैं। भगवद्भक्ति कर्मकक्षाकी नहीं है। अतः श्रीमद्भागवत यह सिद्धान्त स्थापित करता है कि कर्मके द्वारा कर्मोंका आत्यन्तिक विनाश नहीं हो सकता, वासना शेष रह जाती है। अतः पुनः पापाचरण होता है। इसलिये कर्मात्मक प्रायश्चित्त अज्ञानी अधिकारीके लिये है। वास्तविक प्रायश्चित्त तो विमर्श ही है। विमर्शके समान ही केवल भक्ति पापराशिका नाश कर देती है। भक्ति चाहे श्रवणरूपा हो, कीर्तनरूपा हो, स्मरणरूपा हो—उसकी शक्ति अनन्त है। उसमें पापके समूल-विनाशकी शक्ति है।

अजामिल-सदृश पापी केवल एक बार पुत्रके उद्देश्य-से 'नारायण' नामका उच्चारण करके सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो गया। पापोंका प्रायश्चित्त तो हुआ ही, उसकी बुद्धि भी भगवद्विषया हो गयी। आइये, इस अजामिल-प्रसङ्गके एक सुश्लोकका रसास्वादन कीजिये—

**एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां**
**संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।**
**विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि**
**नारायणेति म्रियमाण इयायमुक्तिम्॥**

इस श्लोकमें केवल भगवन्नामोच्चारणको ही सम्पूर्ण पापक्षयका हेतु माना गया है। कितनी विलक्षण वाचोयुक्ति है! 'अलम्' शब्दके साथ 'एतावता' यह तृतीयान्त प्रयोग है। यदि इसका अर्थ भगवन्नामादि-संकीर्तनको पापक्षयके लिये पर्याप्त बताना होता तो एतावत्—अलम् ऐसा प्रथमान्त प्रयोग होता। उसका अभिप्राय होता—इतना ही बस है, पर्याप्त है। 'अलम्' मल्लो मल्लाय। एक पहलवानके लिये दूसरा पहलवान पर्याप्त है। तृतीयान्त प्रयोगका अर्थ है—अलमतिप्रसङ्गेन, अधिक बोलना बंद करो। यहाँ 'अलम्' का अर्थ वारण है।

यह जो भगवान्के गुण, कर्म और नामोंका संकीर्तन है, वह मनुष्योंके पापका क्षय करनेके लिये अनावश्यक है। इसके निरन्तर अनुष्ठानकी कोई अपेक्षा नहीं है। पापक्षयमात्र फल तो अत्यन्त तुच्छ है और भगवत्-कीर्तन बहुत बड़ी वस्तु। नन्हा-सा हल चलाने-के लिये हाथीको जोतना! अब देखिये इसका विवरण। समग्र जीवन महापापमें लिप्त अजामिल शिथिल वाणीसे 'नारायण' नामक अपने पुत्रको केवल एक बार पुकारकर मुक्त हो गया। उसने भगवान्का कीर्तन नहीं किया, वह सावधान भी नहीं था; फिर भी उसके समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति होकर उसे परमानन्दरूप मोक्षकी प्राप्ति हो गयी। पाप तो अनर्थका एक तुच्छ अंश है।

भगवन्नामोच्चारणरूप महादावाग्नि समग्र संसाररूप महावृक्षको समूल जला देती है, एक जीवनमें होनेवाले पाप तो उसके लिये एक तृणके समान भी नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें नामकीर्तन किसी दूसरे साधनके सहयोग-से पापक्षय करता है, ऐसी कल्पना ही भ्रान्तिमूलक है।

## भक्ति कर्मसे श्रेष्ठ एवं निरपेक्ष है

भागवतमें कहा गया है कि 'पापी पुरुष तप आदिसे वैसा पवित्र नहीं हो सकता, जैसा अपनी इन्द्रियों-के द्वारा श्रीकृष्णके सेवन एवं श्रीकृष्ण-भक्तोंकी सेवासे होता है।' श्रीकृष्णके सेवनका अर्थ है—श्रीकृष्णमें इन्द्रियोंको लगाना अर्थात् उनका कीर्तनादि करना। और भी स्पष्टम्-स्पष्टम् कथन है कि वेदवादियोंके द्वारा उपदिष्ट व्रतादिरूप प्रायश्चित्तके द्वारा पापीकी वैसी शुद्धि नहीं होती, जैसी भगवन्नामके उच्चारणसे होती है। तात्पर्य यह है कि कर्मसे होनेवाली शुद्धि और है, भक्तिसे होनेवाली और। यदि दोनों साधनोंमें

अङ्गाङ्गिभाव होता तो ऐसा नहीं हो सकता था; क्योंकि अङ्ग और प्रधानका फल एक ही होता है। विष्णुपुराणमें तपस्या एवं कर्मरूप सभी प्रायश्चित्तोंकी अपेक्षा श्रीकृष्ण-स्मरणको ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। यदि कर्म अङ्गी होता और कीर्तन अङ्ग तो ऐसा कहना युक्तियुक्त न होता; क्योंकि अङ्ग अङ्गीसे श्रेष्ठ कभी नहीं होता। दूसरे स्थानपर वचन मिलता है कि पश्चात्ताप-युक्त पापीके लिये सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त केवल एक बार भगवान्‌का स्मरण ही है। जो साधन सजातीय द्वितीय स्मरणको भी सहन नहीं करता, वह विजातीय प्रायश्चित्त-को कैसे सहन करेगा? नरसिंहपुराणमें 'कृष्ण-कृष्ण', 'श्रीनृसिंह' कहने मात्रसे नरक भोगते हुए पापियोंके उद्धार एवं वैकुण्ठ-प्राप्तिका वर्णन है। शिवपुराणमें भी 'हर-हर' एवं 'नमः शिवाय'के उद्‌घोषको नरककी यातना भोगते हुए प्राणियोंके लिये तत्काल शिवलोक-प्रापक बतलाया गया है। श्रीविष्णुधर्ममें 'विमुक्तान्यसमारम्भः' कहकर नारायण-परायणके लिये अन्य साधनोंके परि-त्यागका उपदेश दिया गया है। वहीं गोविन्द-नामोच्चारणसे क्षत्रबन्धुके द्वारा गोविन्दत्व-प्राप्तिका समुल्लेख मिलता है। यहाँ कीर्तनमात्रसे ही समग्र पापोंका क्षय कहा गया है। निष्कर्ष यह है कि केवल हरिकीर्तन ही समस्त पापोंके क्षयका साधन है। न उसे कर्मादि किसी अन्य साधनके समुच्चयकी अपेक्षा है और न वह किसी दूसरे साधनका अङ्ग है।

### नाम-कीर्तनकी केवलता क्या है?

कारणकी पुष्कलता ही केवलता है। इसीको निरपेक्षता भी कहते हैं। वह कार्यके पूर्व क्षणमें नियत-रूपसे रहता है। इसीको कार्योत्पत्तिकी सामग्री कहते हैं। जिसके बाद अवश्य ही कार्य सम्पन्न हो जाय, वही पुष्कल कारण है। दूसरे साधनकी अपेक्षा रखने-पर वह पुष्कल नहीं है।

यह कारणकी पुष्कलता कहीं एकमें ही होती है, जैसे संयोगका नाशरूप कार्य केवल विभागमें है। कहीं वह दोमें होती है—जैसे स्वर्ग-प्राप्तिरूप कार्यके प्रति पुष्कलता दर्श तथा पौर्णमास दोनोंके ही अपूर्वोंमें है। कहीं अनेकमें होती है—जैसे घटरूप कार्यके प्रति पुष्कलता डंडा, चाक, चिथड़ा, कुम्हार आदि सभीमें है। जहाँ अनेककी पुष्कलकारणता होती है, वहाँ अपने आश्रयमें मिल-जुलकर होती है; परंतु जहाँ एकमें ही होती है, वहाँ उसीमें सम्पूर्णतया होती है। नामकीर्तनरूपा भक्तिमें पापक्षयकी पुष्कल कारणता विद्यमान है, इसलिये पापक्षयके लिये उसे किसी दूसरेसे मिल-जुलकर रहनेकी आवश्यकता नहीं है।

'आरम्भवादमें अनेक कारण हैं—समवायी, असमवायी, निमित्त कारण, तथा परिणामवाद एवं विवर्तवादमें भी उपादान एवं निमित्त—दो कारण हैं। फिर एकमात्र भक्तिमें ही पुष्कल कारणता क्यों है?' यह प्रश्न उठाया जा सकता है। इसका समाधान यह है कि हमने पापक्षयरूप कार्यका एकमात्र निमित्त-कारण भक्तिको कहा है, उपादान-कारण नहीं। उपादान-कारण तो स्वतः सिद्ध आत्मा है और उसे शास्त्रकी कोई अपेक्षा नहीं है। शबरस्वामीने स्पष्ट कहा है कि 'मुझे किस वस्तुकी प्राप्तिके लिये साधन करना है—यह तो पुरुषको ज्ञात ही रहता है; वह उपाय नहीं जानता, अतः उसे उपायका उपदेश किया जाता है।' 'अकेला निमित्त-कारण निरपेक्ष पुष्कल कारण कैसे हो सकता है? अथवा निमित्त-कारणमात्रसे ही किसी कार्यकी सिद्धि कैसे हो सकती है?'—इस शङ्का-कलङ्क-पङ्कका प्रक्षालन यह है कि प्रकाशके संयोगमात्रसे ही अन्धकार-निवृत्तिका होना सार्वजनिक प्रत्यक्ष है। अतः 'केवलया भक्त्या' इस भागवत-वचनका यह अर्थ है कि मधुसूदनभगवान्‌का एक बार किया हुआ नामोच्चारण ही अशेष-पाप-प्रध्वंसका पुष्कल कारण है—ठीक वैसे ही जैसे गगनाङ्गनमें अवतीर्ण तरणि ( सूर्य ) तिमिर-पटलका सर्वथा उत्पाटन कर देता है। निष्कर्ष यह है कि भगवन्नाम-कीर्तन

बिना किसी अन्य—सहकारके ही पापक्षयका साधन है न किसीका अङ्ग है, न समुच्चित ।

हमारा यह कथन कदापि नहीं है कि मन्वादि-स्मृतियोंमें कथित प्रायश्चित्त पापीको पवित्र नहीं करते; वे पवित्र करते हैं, परंतु सम्यक् पवित्र नहीं करते—'पुनन्ति किंतु सम्यक् न पुनन्ति' ( अर्थात् भलीभाँति पवित्र नहीं करते ) । भलीभाँति कहनेका तात्पर्य यह है कि वे कर्मात्मक प्रायश्चित्त पापक्षय करते हैं, वासना-क्षय नहीं; क्योंकि वासना-क्षय कर्मसाध्य नहीं है । कर्म भगवद्विमुख व्यक्तिपर अपना अधिकार रखते हैं, वासना-नाशतक उनकी पहुँच नहीं है । वासना-नाश तो भक्ति और ज्ञानसे होता है । नारायणभक्त कर्मात्मक प्रायश्चित्तोंमें प्रवृत्त ही नहीं होता; अतः हम यह कहते हैं कि प्रायश्चित्त पापका क्षय तो करते हैं, वासनाका क्षय नहीं ।

इसके साथ ही कर्मसे कर्मका निर्हार होता है अर्थात् कर्मसे कर्म कटते हैं—यह तो ठीक है, परंतु आत्यन्तिक रूपसे नहीं कटते—'न ह्यात्यन्तिक इष्यते;' क्योंकि वासनाएँ शेष रह जाती हैं । वे प्रायश्चित्त अभक्तके लिये हैं । ब्रह्मविद्याके समान ही भक्ति कर्म-निर्हारका आत्यन्तिक साधन है । वासनायुक्त पुरुष कभी पाप करता है, कभी छोड़ता है । उसका प्रायश्चित्त तो गजस्नानके समान है । तप-दान-व्रतादिसे पाप मिटते अवश्य हैं, परंतु शत-शत अधर्मसे बना हृदय शुद्ध नहीं होता । उसके लिये तो भगवद्भक्ति ही है । यद्यपि नवधा भक्तिके सभी अङ्ग अत्यन्त शक्तिशाली हैं और सबमें सब पापोंके मिटानेकी सामर्थ्य है, तथापि यहाँ हम 'भक्ति' शब्दसे केवल कीर्तनरूपा भक्तिको ग्रहण करते हैं । जैसे प्रत्येक गायका सींग पकड़-पकड़कर कोई परिचय दे, वैसे ही श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन आदिसे भी पृथक्-पृथक् प्रभावका वर्णन पुराणोंमें समुपलब्ध होता है ।

यह विचारणीय है कि जब मनुष्य एक बार पापपथपर आरूढ़ हो जाता है, तब पापसे पाप और फिर पापसे पाप—इस प्रकार उसकी अधोगतिकी परम्परा प्रारम्भ हो जाती है अथवा नहीं ? पुराणोंमें 'पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी'—ऐसे वचन मिलते हैं । मनुष्य एक बार पाप करता है, फिर पाप करता है । परमेश्वर भी पूर्व-पूर्व-कल्पोंकी स्वर्ग-नरक-सृष्टिके समान पूर्व-पूर्व कल्पोंकी पाप-पुण्य-परम्पराको भी जाग्रत् करता है; क्योंकि परम दयालु परमेश्वर कर्म-सापेक्ष हुए बिना विषम सृष्टिका निर्माण नहीं कर सकता । वेदान्त-सिद्धान्तमें भी प्राचीन संस्कार आदिकी अपेक्षाको स्वीकार करके ही इस मायामयी सृष्टिमें पक्षपात और निर्दयता दोषका समाधान किया जाता है । ऐसी स्थितिमें जीव केवल कर्मानुष्ठानके द्वारा पाप-पुण्य और उसके फलकी परम्परासे मुक्त नहीं हो सकता। वह तभी मुक्त हो सकता है,जब परिपूर्ण परमेश्वरका अनुधावन करके कर्म-परम्पराके आत्यन्तिक नाशक अन्तःकरण-शोधक भगवद्-गुणानुवादका आश्रय ग्रहण करे । क्या ही सुन्दर कहा है—

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तसिद्धिं लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥

अनन्त भगवान्के हृदयमें प्रकट रूपसे विराजमान होनेपर आत्यन्तिक शुद्धिकी प्राप्ति होती है । साथ ही हमें यह भी स्वीकार है कि यदि कोई कर्मानुष्ठान करते समय भगवान्का नामोच्चारण करे तो इससे उसका गुण बढ़ जाता है, फल बढ़ जाता है । इसमें संदेह नहीं कि भगवान्का नाम जहाँ भी होगा, वहाँ मङ्गल एवं कल्याणका हेतु ही होगा । हमने तो केवल इतना ही प्रतिपादन किया है कि सम्पूर्ण पुराणोंका परम तात्पर्य भगवन्नाम-कीर्तनकी स्वतन्त्र प्रधानतामें है, वह किसीका अङ्ग अथवा शेष नहीं है । ( क्रमशः )

# गीताका भक्तियोग—११

( स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या )

[ गताङ्क पृष्ठ ८४५से आगे ]

सम्बन्ध

*सिद्ध भक्तके छः लक्षणोंका निर्देश करनेवाला तीसरा प्रकरण—*

श्लोक

**अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।**
**सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥**

भावार्थ

भगवान्‌के प्राप्त होनेपर भक्त पूर्णकाम हो जाता है; अतः उसके मनमें किसी वस्तु-क्रिया-पदार्थकी इच्छा, वासना और स्पृहा नहीं रहती । उसमें स्वतः महान् पवित्रता होती है । वह करने योग्य कार्य कर चुकता है । उसके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक होते ही नहीं । किसी कार्यके प्रारम्भमें उसका 'मैं करता हूँ' ऐसा भाव रहता ही नहीं । वर्णाश्रमानुसार कालोचित संसारकी क्रिया करते हुए भी उसका उद्देश्य संसार न रहनेसे वह संसारसे सर्वथा विमुख ही रहता है, एकमात्र भगवान्‌में ही तन्मय रहता है । ऐसा भक्त भगवान्‌को प्यारा होता है ।

अन्वय

यः, अनपेक्षः, शुचिः, दक्षः, उदासीनः, गतव्यथः, सर्वारम्भपरित्यागी, मद्भक्तः, सः, मे, प्रियः ॥ १६ ॥

**यः**—जो

**अनपेक्षः**—आकाङ्क्षासे रहित । आवश्यक वस्तुओंकी भी स्पृहा नहीं रखनेवाला भगवद्भक्त भगवान्‌को ही सर्वोत्तम वस्तु मानता है; उससे बढ़कर उसकी दृष्टिमें कोई लाभ नहीं, जिसके लिये वह ललचाये । संसारकी किसी भी वस्तुके प्रति उसका किंचिन्मात्र कभी आकर्षण नहीं रहता । इतना ही नहीं, उसका मन, बुद्धि, शरीरमें भी अपनापन नहीं रहता, वरं वह उनको भगवान्‌के ही मानता है । अतः उसे शरीर-निर्वाहकी भी चिन्ता नहीं होती । तब फिर वह और किस बातकी अपेक्षा करे ? अर्थात् किस बातकी इच्छा-वासना-स्पृहा रक्खे ?

कितनी भी बड़ी आपत्ति उसपर आ जाय, तो भी उसके चित्तपर प्रतिकूलताका असर नहीं होता । इसलिये वह किसी प्रकारकी अनुकूलताकी कामना ही नहीं करता । विकट-से-विकट परिस्थितिमें भी वह भगवान्‌की लीला देखकर मुग्ध रहता है ।

भक्तका भाव यह होता है कि नाशवान् पदार्थ तो रहेंगे नहीं, उनका नाश अवश्यम्भावी है और अविनाशी परमात्मासे उसका कभी वियोग होता ही नहीं । अतः वह नाशवान् पदार्थोंकी इच्छा ही क्यों करे ?

एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि इच्छा करनेसे ही शरीर-निर्वाहके पदार्थ मिलते हों—ऐसी बात भी नहीं है । शरीर-निर्वाहकी अपेक्षित सामग्री स्वतः आती है; क्योंकि भगवान्‌की ओरसे जीवमात्रके शरीर-निर्वाहकी अपेक्षित सामग्रीका प्रबन्ध स्वतः हुआ रहता है । इच्छा करनेसे तो आवश्यक वस्तुओंके आनेमें आड़ ही लगती है; क्योंकि इच्छाको अपने अन्तःकरणमें ही पकड़ लेनेके कारण फैलने नहीं दिया जाता अर्थात् दूसरे पुरुषोंको उस आवश्यकताका अनुभव ही नहीं होने दिया जाता । ऐसा देखा जाता है कि इच्छा न रखनेसे स्वतः दूसरोंके अन्तःकरणमें इच्छा न रखनेवालोंको वस्तु देनेकी प्रेरणा होती है । उदाहरणके लिये विरक्त त्यागी और बालक शरीर-निर्वाहके प्रबन्धकी इच्छा स्वयं नहीं करते तो उनकी आवश्यकताओंका प्रभाव अपने-आप दूसरों-पर पड़ता है, जिसके फलस्वरूप दूसरे स्वतः ही उनके शरीर-निर्वाहका प्रबन्ध करते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि इच्छा न करनेसे बिना माँगे जीवन-निर्वाहकी वस्तुएँ स्वतः

मिलती हैं। अतः अपेक्षित वस्तुओंकी इच्छा करना केवल मूर्खता और फोकटमें दुःख पाना ही है। सिद्धभक्तको तो अपने कहलानेवाले शरीरकी भी परवा नहीं होती, इसलिये वह सर्वथा निरपेक्ष ही होता है।

भगवान् दर्शन दें या न दें—भक्तको इसकी भी अपेक्षा नहीं होती। भगवान् दर्शन दें तो आनन्द; न दें तो भी आनन्द है—वह तो अपनी मस्तीमें मस्त रहता है। उसकी मस्तीको देखकर भगवान् उसके पीछे-पीछे दौड़ते हैं।

**निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम्।**
**अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥**

(श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

'जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं, जो जगत्‌के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन-चिन्तनमें तल्लीन रहता है और राग-द्वेष न रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।'

भगवान्‌को छोड़कर किसी वस्तुकी अपेक्षा रखनेवाला भक्त ही कैसे कहा जा सकता है, वह तो उस अपेक्षित वस्तुका ही भक्त है। अवश्य ही यह भगवान्‌की उदारता है कि अपने (भगवान्)से ही कुछ चाहनेवाले अपने (भगवान्‌का) भजन करनेवालोंको वे अपना भक्त मान लेते हैं। अतः सच्चा भक्त सर्वथा निःस्पृह होता है।

**शुचिः**—बाहर-भीतरसे शुद्ध।

'**शुचिः**' पद केवल बाहरकी पवित्रताका ही द्योतक नहीं है। भक्तका शरीर बाहरसे तो पवित्र होता ही है, साथ ही उसका अन्तःकरण भी अत्यन्त पवित्र होता है। ऐसे पवित्र भक्तके स्पर्श, दर्शन, भाषण और चिन्तनसे लोग पवित्र हो जाते हैं। तीर्थ सब लोगोंको पवित्र करते हैं; किंतु भगवान्‌के भक्त तीर्थोंको भी तीर्थत्व प्रदान करते हैं अर्थात् तीर्थ भी उनके चरण-स्पर्शसे पवित्र हो जाते हैं—

'**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता॥**'

(श्रीमद्भा० १। १३। १०)

'**पवित्राणां पवित्रम्**'—पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले भगवान् भक्तोंके हृदयमें निवास करते हैं, इसीलिये भक्त अत्यन्त पवित्र है।

**साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः।**
**हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥**

(श्रीमद्भा० ९। ९। ६)

'माता! जिन्होंने लोक-परलोक, धन-सम्पत्ति और स्त्री-पुत्रकी कामनाका संन्यास कर दिया है, जो संसारसे उपरत होकर अपने आपमें शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकोंको पवित्र करनेवाले परोपकारी सज्जन हैं, वे अपने अङ्गस्पर्शसे तुम्हारे पापोंको नष्ट कर देंगे; क्योंकि उनके हृदयमें अघरूप अघासुरको मारनेवाले भगवान् सर्वदा निवास करते हैं।

छठे अध्यायके ११वें श्लोकमें '**शुचौ**' पद पवित्र स्थानके लिये, ४१वें श्लोकमें '**शुचीनां**' पद पवित्र पुरुषोंके लिये, तेरहवें अध्यायके ७वें श्लोकमें, सोलहवें अध्यायके ३रे और ७वें श्लोकोंमें तथा अठारहवें अध्यायके ४२वें श्लोकमें—'**शौचं**' पद बाहर-भीतरकी शुद्धि और पवित्रताके लिये आये हैं, तथा सत्रहवें अध्यायके १४वें श्लोकमें '**शौचं**' पद शरीरकी शुद्धिके लिये आया है।

**दक्षः**—चतुर। जिसने करने योग्य कार्य कर लिया, वही दक्ष है। मानव-जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है। इसीके लिये मनुष्य-शरीर मिला है। अतः जिसने अपना उद्देश्य प्राप्त कर लिया, वही वस्तुतः '**दक्ष**' अर्थात् चतुर है।

**एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।**
**यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥**

(श्रीमद्भा० ११। २९। २२)

'विवेकियोंके विवेक और चतुरोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि वे इस विनाशी और असत्य शरीरके द्वारा मुझ अविनाशी एवं सत्य तत्त्वको प्राप्त कर लें ।'

सांसारिक दक्षता अर्थात् चतुराई वास्तवमें चतुराई नहीं है । एक दृष्टिसे तो व्यवहारमें अधिक चतुराईका होना कलङ्क है; क्योंकि जड पदार्थोंका अधिक आदर होनेपर वह मनुष्यका पतन करनेवाली होती है ।

अठारहवें अध्यायके ४३ वें श्लोकमें **'दाक्ष्यम्'** पद क्षत्रियके स्वाभाविक धर्मका बोधक है ।

**उदासीनः**—पक्षपातसे रहित । उद्+आसीन अर्थात् ऊपर बैठा हुआ, तटस्थ रहनेवाला, पक्षपातसे रहित ।

विवाद करनेवाले दो पुरुषोंके प्रति जिसका सर्वथा तटस्थ भाव है, उसे उदासीन कहा जाता है । यह पद निर्लिप्तताका द्योतक है । जैसे ऊँचे पहाड़पर खड़े हुए पुरुषपर नीचे पृथ्वीपर लगी हुई आगका तथा पृथ्वीपर आयी हुई बाढ़ आदिका कोई असर नहीं होता, वैसे ही किसी भी अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिसे भक्त सदा अलिप्त रहता है ।

भक्तका जो हित चाहता है, उसके अनुकूल बर्ताव करता है, वह उसका मित्र समझा जाता है एवं जो मनुष्य भक्तसे वैर करता है, विरोध करता है, वह उसका शत्रु समझा जाता है । इस प्रकार शत्रु-मित्र समझे जानेवाले व्यक्तिके साथ भक्तके बर्तावमें बाहरसे अन्तर प्रतीत हो सकता है, किंतु भक्तके अन्तःकरणमें दोनोंके प्रति यत्किंचित् भी भेदभाव नहीं होता, वह सर्वथा उदासीन अर्थात् अलिप्त रहता है ।

चौदहवें अध्यायके २३वें श्लोकमें गुणातीत भक्तको **'उदासीनवत्'** इसलिये बतलाया गया है कि वहाँ अपने स्वरूपके सिवा और किसीकी सत्ता है ही नहीं, तब वह उदासीन किससे हो ? उसका बर्ताव अपने शत्रु-मित्र समझे जानेवाले व्यक्तिके प्रति उदासीनका-सा होता है । इसलिये उसे **'उदासीनवत्'** कहा गया है ।

भगवान्‌को भी नवें अध्यायके ९वें श्लोकमें जो **'उदासीनवत्'** कहा गया है, उसका भी तात्पर्य यही है कि भगवान्‌के सिवा दूसरा कोई है ही नहीं, तब वे उदासीन किससे होंगे ? इसलिये उन्हें **'उदासीनवत्'** अर्थात् उदासीनकी तरह कहा गया ।

किंतु यहाँ भगवद्भक्तको **'उदासीनः'** बतलाया गया है । इसका भाव यह है कि भक्तके अन्तःकरणमें अपनी स्वतन्त्र सत्ता तो है नहीं । उसकी दृष्टिमें प्रकृतिकी सत्ताका सर्वथा अभाव नहीं है; क्योंकि वह प्रकृतिको परमात्माकी मानता है । अतः उसका व्यवहार उदासीन अर्थात् पक्षपातसे रहित होता है । इसलिये उसे **'उदासीनः'** कहा गया ।

छठे अध्यायके नवें श्लोकमें **'उदासीन'** पदका प्रयोग इस बातको द्योतित करनेके लिये किया गया है कि सिद्ध कर्मयोगीका उदासीन पुरुषमें समभाव रहता है ।

**गतव्यथः**—दुःखोंसे छूटा हुआ ।

जिसके चित्तमें व्यथा कभी होती ही नहीं—कुछ मिले या न मिले, कुछ भी आये या चला जाय, जिसके चित्तपर दुःख-चिन्तारूपी हलचल कभी होती ही नहीं, उस भक्तको यहाँ **'गतव्यथः'** कहा गया है ।

यहाँ **'व्यथा'** पद केवल पीड़ा अथवा दुःखका वाचक ही नहीं है । सुखकी प्राप्ति होनेपर भी जो चित्तमें प्रसन्नता-की हलचल होती है, उसका नाम भी **'व्यथा'** ही है । अतः सुख-दुःख दोनोंसे अन्तःकरणमें होनेवाली हलचलके अत्यन्ताभावको ही यहाँ **'गतव्यथः'** पदसे व्यक्त किया गया है ।

दूसरे अध्यायके १५वें श्लोकमें **'यं हि न व्यथयन्त्येते'** पदोंसे साधकके व्यथित न होनेकी बात कही गयी है ।

ग्यारहवें अध्यायके ३४वें श्लोकमें **'व्यथिष्ठाः'** पद तथा ४९वें श्लोकमें **'व्यथा'** पद भयके अर्थमें आये हैं।

चौदहवें अध्यायके २२वे श्लोकमें **'व्यथन्ति'** पदका प्रयोग यह बतलानेके लिये किया गया है कि सिद्धपुरुषको जन्म-मरणरूपी व्यथा नहीं होती।

**सः**—वह।

**सर्वारम्भपरित्यागी**—सभी आरम्भोंका त्यागी। अर्थात् मन, वाणी और शरीरद्वारा प्रारब्धवश होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी।

सिद्धभक्तको कुछ भी प्राप्तव्य या कर्तव्य न रहनेसे उसका क्रिया करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, किंतु कोई भी मनुष्य क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग नहीं कर सकता ( गीता ३। ५ और १८। ११ )। भक्तके द्वारा भी शरीर-निर्वाह, भक्तिप्रचार और परहित आदिके लिये क्रियाएँ तो होती हैं; पर भक्तकी यह विशेषता है कि ( उसके ) मन, वाणी और शरीरके द्वारा क्रियाएँ होते रहनेपर भी वह कर्तापनके अभिमानसे सर्वथा रहित होता है। उसमें राग-द्वेष, कर्तृत्वाभिमान एवं फलासक्तिका सर्वथा अभाव होता है और उसके द्वारा होती हुई दीखनेवाली क्रियाएँ शुद्ध एवं सुनिष्पन्न होती हैं।

भक्तके शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा अहंकार सर्वथा भगवदर्पित रहते हैं। उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता अथवा इच्छा नहीं रहती। वह एकमात्र भगवान्‌के हाथका यन्त्र बना रहता है। जैसे यन्त्रमें अपना कोई आग्रह नहीं होता—यन्त्री उसे जैसे भी चलाये, वह तो उसीपर सर्वथा निर्भर रहता है, उसी प्रकार भक्त भी भगवान् उससे जो कुछ कराते हैं, वही करता है—उसका अपना कोई आग्रह नहीं रहता।

वैसे तो सभी मनुष्योंको यन्त्रवत् भगवान् ही चलाते हैं ( गीता १८। ६१ )। मनुष्य अपने शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें अहंकार, आसक्ति, ममता रहनेसे कर्मोंका स्वयं कर्ता बन जाता है ( गीता ३। २७ )। इसीलिये वह जन्म-मरणरूपी दुःखको भोगता रहता है। भक्त कर्मोंको अपना नहीं मानता, सर्वथा भगवान्‌के द्वारा ही किये हुए मानता है; इसलिये उसकी क्रियाएँ होती हुई दीखनेपर भी वास्तवमें नहीं होतीं, उसके कर्म अकर्म ही होते हैं।

एक स्थितिमें क्रिया की जाती है, एक स्थितिमें क्रिया होती है और एक स्थितिमें सत्तामात्र रहती है, क्रियाका सर्वथा अभाव होता है। साधारण मनुष्योंका जडताके साथ विशेष सम्बन्ध रहनेसे उनके द्वारा क्रिया की जाती है। साधकका जडताके साथ स्वल्पमात्र सम्बन्ध रहनेसे उसके द्वारा क्रिया होती है। इस स्थितिमें भी, यह माननेपर भी कि भगवत्कृपासे ही साधन हो रहा है, क्रियाएँ हो रही हैं, साधकका साधन तेजीसे बढ़ेगा। पर जहाँ जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद है, वहाँ सत्तामात्र है, अर्थात् ज्ञानमार्गीकी स्वरूपमें स्थिति होती है और भक्तिमार्गीकी भगवान्‌में तल्लीनता। वहाँ क्रिया करे कौन ? वहाँ तो स्थिति मात्र है।

मन, वाणी और शरीरद्वारा प्रारब्धवश होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानके त्यागकी बात गीताजीमें निम्नाङ्कित स्थलोंपर इस प्रकार आयी है—

ज्ञानमार्गी मानता है कि क्रिया होती है प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंद्वारा। तीसरे अध्यायके २८वें श्लोकमें **'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** ( इन्द्रियरूप गुणकार्योंका विषयरूप गुणकार्योंमें व्यापार हो रहा है )—इन पदोंसे, पाँचवें अध्यायके ९वें श्लोकमें **'इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते'**—इस वाक्यसे तथा १३वें श्लोकमें **'नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्'** ( आत्मा न तो कुछ करता है और न कुछ कराता है )—इन पदोंसे तथा १४वें श्लोकमें **'स्वभावस्तु प्रवर्तते'** ( स्वभाव अर्थात् प्रकृति ही क्रियाशील है ) कहकर, तेरहवें अध्यायके २९वें श्लोकमें

'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः' ( कर्म सब-के-सब प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हैं )—इन पदोंसे और अठारहवें अध्यायके १४वें एवं १५वें श्लोकोंमें कर्मोंके होनेमें पाँच हेतु बताकर इसी बातकी ओर संकेत किया गया है ।

भक्तिमार्गी स्वयं भगवान्‌के समर्पित होकर सम्पूर्ण क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण कर देता है—जैसा कि तीसरे अध्यायके ३०वें श्लोकमें—'**मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा**' तथा पाँचवें अध्यायके १०वें श्लोकमें—'**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः**' पदोंद्वारा कहा गया है ।

कर्मयोगी सम्पूर्ण क्रियाओंको संसारकी सेवामें लगाता है—यहाँतक कि '**अहं**' अर्थात् '**मैं**'पनको भी संसार-की सेवामें लगा देता है । सुतरां उसमें भी कर्तृत्वा-भिमान नहीं रहता—जैसा कि चौथे अध्यायके १९वें श्लोकमें '**यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः**' पदोंमें कहा गया है ।

ज्ञानी भक्तकी शरीर-इन्द्रिय-मन बुद्धिरूपी व्यष्टि प्रकृति अहंकार और ममत्वसे रहित होनेके कारण समष्टि प्रकृतिमें मिल जाती है । इसलिये उसकी क्रियाओंमें कर्तृत्व नहीं रहता । प्रारब्धवश उसके शरीर, मन, वाणीसे होनेवाली क्रियाएँ समष्टि प्रकृति-शक्तिसे ही होती रहती हैं । इसलिये उसे भी चौदहवें अध्यायके २५वें श्लोकमें '**सर्वारम्भपरित्यागी**' कहा गया है ।

समष्टि प्रकृति ही परमात्माकी अध्यक्षतासे सारे संसारका संचालन करती है ( गीता ९ । १० ) । मनुष्य मन, बुद्धि, इन्द्रिय एवं शरीररूपी प्रकृतिके कार्यों-को अपना मान लेता है, इसीलिये क्रियाओंका कर्ता स्वयं बन जाता है । यद्यपि क्रियाएँ तो सभी समष्टि प्रकृतिके द्वारा ही हो रही हैं, तथापि भूलसे वह स्वयं कर्ता बन जाता है । भक्त अपने कहलानेवाले शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको सर्वथा भगवान्‌के ही मानता है, एकमात्र प्रभुको ही अपना मानता है । अतः समष्टि प्रकृतिरूप जो परमात्माकी शक्ति, संसारका कार्य चलाती है, उसी समष्टि प्रकृतिसे भक्तके अपने कहलाने-वाले मन-इन्द्रिय-शरीरके द्वारा क्रियाएँ होती हैं, अर्थात् भक्तके कार्य भगवान्‌के द्वारा ही संचालित होते हैं । इसीलिये भक्तको '**सर्वारम्भपरित्यागी**' कहा गया है ।

वास्तवमें दोष न तो प्रकृतिमें है और न पुरुष अर्थात् चेतनमें । चेतनका जडके साथ सम्बन्ध मान लेनेसे ही दोष प्रारम्भ होते हैं । प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही साधारण मनुष्योंको अपने लिये सांसारिक पदार्थोंकी आवश्यकता प्रतीत होती है, उन पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये कर्म करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और फिर वे कर्म करना आरम्भ कर देते हैं । इधर भक्तका एक-मात्र भगवान्‌के साथ सम्बन्ध रहनेसे उसमें कार्योंका आरम्भ करनेके मूल हेतुका ही अत्यन्त अभाव रहता है । प्रकृतिके साथ सम्बन्ध मानना ही क्रियाओंके आरम्भका मूल हेतु है । इसलिये भक्त '**सर्वारम्भपरित्यागी**' होता है ।

चौथे अध्यायके १९वें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके ४८वें श्लोकमें '**सर्वारम्भाः**' पद शास्त्रविहित कर्मोंके वाचक हैं ।

**मद्भक्तः**—मेरा भक्त, मेरा प्रेमी । भगवान्‌में स्वाभाविक ही इतना महान् आकर्षण है कि भक्त स्वतः भगवान्‌की ओर खिंच जाता है—

**आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।**
**कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥**
( श्रीमद्भा० १ । ७ । १० )

'जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान्‌की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे मधुर हैं, जो लोगों-को अपनी ओर खींच लेते हैं ।'

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि भगवान्में इतना आकर्षण है तो सभी मनुष्य भगवान्की ओर क्यों नहीं खिंच जाते और भगवान्के प्रेमी क्यों नहीं हो जाते, भक्त ही भगवान्का प्रेमी क्यों होता है ।

सच्ची बात यह है कि जीव भगवान्का ही अंश है, अतः उसका भगवान्के प्रति स्वतः ही आकर्षण होता है; किंतु जो भगवान् अपने हैं, उन्हें तो उसने अपना माना नहीं और जो मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ शरीरादि अपने हैं नहीं, उन्हें अपना मान लिया । इसीलिये यह शारीरिक निर्वाह और सुखके लिये सांसारिक भोगोंमें आकृष्ट हो गया, और इसीलिये उसकी परमात्मतत्त्वसे विमुखता हो गयी । पर वास्तवमें विमुखता भी हुई नहीं; नाशवान्, क्षणभङ्गुर भोगोंकी ओर आकर्षण होनेसे उसकी परमात्मासे विमुखता दीखती है, वास्तवमें वह भगवान्से दूर नहीं है । जब इन नाशवान् भोगोंकी ओरसे उसका आकर्षण हट जाता है, तब वह स्वतः ही भगवान्की ओर खिंच जाता है । भक्तकी संसारमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति न रहनेसे उसका भगवान्में अटल प्रेम स्वतः हो जाता है । ऐसे अनन्यप्रेमीको भगवान् **'मद्भक्तः'** कहकर अपना प्रेमी घोषित करते हैं ।

**मे**—मुझे ।

**प्रियः**—प्रिय है । जिसकी भगवान्के स्वरूपमें अटल स्थिति है तथा जिसका भगवान्से वियोग कभी होता ही नहीं, वह भक्त भगवान्को प्यारा है ।

## आस्तिकताकी आधारशिलाएँ

### भगवान्का भरोसा करके शास्त्र एवं महापुरुषोंद्वारा कथित बातोंको काममें लाइये

अपने प्रिय शिष्य सनातनको शिक्षा देते हुए महाप्रभु चैतन्यने भगवान्के स्वभावके सम्बन्धमें कहा है—

**भक्तवत्सल कृतज्ञ समर्थ वदान्य···**

श्रीकृष्ण भक्तवत्सल हैं । जिस प्रकार माता अपने अबोध शिशुकी करुण पुकार सुनकर दौड़ पड़ती है, धूलसे लथपथ बच्चेके मैलेपनको नहीं देखती, धूल साफ किये बिना ही उसे गोदमें उठा लेती है एवं स्तन्यपान कराकर उसे सान्त्वना प्रदान करती है, उसी प्रकार दयामय भगवान् अपने भक्तकी करुण पुकार सुनकर उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं, अत्यन्त अधम भक्तकी असीम पापराशिकी ओर भी नहीं देखते । पाप धोनेके पहले उसे अपनी गोदमें उठा लेते हैं और अपना चरणामृत पान कराकर उसकी त्रिताप-ज्वाला शान्त कर देते हैं । प्रश्न होता है कि 'भक्त होनेपर तो यह बात है ही, किंतु मैं भक्त कहाँ हूँ ? माँ बच्चेकी सच्ची पुकार सुनती है, मैं तो कातरकण्ठसे भगवान्को पुकार भी नहीं सकता । मेरी आवाज ही उनके पास कैसे पहुँचेगी ?' महाप्रभु कहते हैं—'वे कृतज्ञ हैं । अवश्य ही तुम्हारी पुकार सच्ची नहीं है, उसमें इतना बल नहीं है कि अपनी शक्तिसे वह भगवान्को तुम्हारी ओर आकर्षित कर सके; किंतु वे तुम्हारी प्रत्येक चेष्टाको जानते हैं । तुम्हारी क्षीण-से-क्षीण आवाज भी उनके पास पहुँच जाती है । घबराओ नहीं, तुम्हारी यह क्षीण पुकार ही उन्हें बुला लेगी ।' कोई कह सकता है—'भगवान् भक्तवत्सल हैं, कृतज्ञ हैं; किंतु क्या वे मुझ अनधिकारीको मनोवाञ्छित फल दे सकेंगे ?' इसपर महाप्रभु कहते हैं—'वे समर्थ हैं, उनके लिये अधिकारी और अनधिकारीका प्रश्न नहीं बनता ।' एक प्रश्न और उठ सकता है—'भगवान् भक्तवत्सल हैं, कृतज्ञ हैं, समर्थ हैं; किंतु क्या वे मुझ-जैसेपर भी कृपा दरसा सकेंगे ?' इसपर प्रभु कहते हैं—'वे वदान्य हैं ।'

संसारमें देखा जाता है कि एक धनी एक गरीबकी ओर करुणाभरी दृष्टि रखता है, वह उस गरीबकी हालतको भी अच्छी तरह जानता है, उसकी बुरी दशाको दूर करनेमें भी समर्थ है, किंतु कृपणतावश गरीबकी सहायता नहीं करता। पर भगवान् ऐसे नहीं हैं। वे अपना सर्वस्वतक दे डालते हैं। उनका प्रतिदान मामूली नहीं है। शास्त्रका वचन है—

**तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च।**
**विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥**

महाप्रभुकी यह शिक्षा ध्यानमें रखनी चाहिये। कोई विश्वास करे चाहे नहीं; किंतु शास्त्रकी, महापुरुषोंकी उक्तियाँ बिल्कुल उसी रूपमें ठीक हैं, जिस रूपमें कही गयी हैं। श्रद्धा नहीं रहनेके कारण ही मनुष्य दुःख उठाता है। श्रद्धा न हो तो भी भगवान्का भरोसा करके शास्त्र एवं महापुरुषोंद्वारा कथित बातोंको काममें लाना चाहिये। वस्तुगुण अन्तमें अपने-आप श्रद्धा उत्पन्न कर देगा।

## भगवान्की कृपासे ही महापुरुषोंकी कृपाका अनुभव होता है

महापुरुषोंकी दया कितनी विशाल होती है, इसका पूर्ण अनुभव तो अन्तःकरणके पूर्णतया शुद्ध हो जानेपर ही होता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य भगवान्के राज्यमें प्रवेश करता जाता है, उसका अन्धकार दूर होता जाता है। सूर्यके पूर्णतया उदय होनेपर ही प्रकाशमें स्थित वस्तु साफ दीखती है। इसी प्रकार महापुरुष क्या तत्त्व है, यह बात भगवत्प्राप्ति होनेके बाद ही मालूम होती है। अतएव महापुरुषोंके प्रति जितनी भी श्रद्धा कर सकें, वह मेरी समझमें थोड़ी ही रहेगी।

भजन अधिक-से-अधिक हो, इसका पूर्ण ध्यान रखेंगे। नहीं तो आज जो आपका अन्तःकरण ऐसा सुन्दर निर्णय दे रहा है—महापुरुषोंकी दयाका अनुभव करता है—वह कल करना बंद हो जा सकता है। भगवान्की कृपासे ही महापुरुषोंकी कृपाका अनुभव होता है। अतः भगवान्की कृपाका अनुभव बढ़ते जानेके लिये निरन्तर भजन होना चाहिये। महत्कृपा अपने-आप यथोचित समयपर प्रकाशित होती रहेगी।

## महायात्राका सच्चा पाथेय है—भगवद्भजन

उस दिन हठात्·······के जीवनका अन्त हो गया। पता नहीं वे इस समय कहाँ होंगे। परंतु इतना तो हम सभीके लिये प्रत्यक्ष है कि यहाँकी किसी भी वस्तुसे अब उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। अब वे मात्र इने-गिने अपने कुछ सम्बन्धियोंकी स्मृतिके विषय रह गये हैं। समय इस स्मृतिको भी दूर कर देगा। यही दशा हम सबकी होनेवाली है। यह बिल्कुल निश्चित है कि एक दिन हमारा भी यहाँसे, यहाँसे सम्बन्धित व्यक्तियोंसे, यहाँके कार्य-कलापसे—इतना ही नहीं, यहाँके किसी भी पदार्थसे बिल्कुल ही सम्बन्ध नहीं रहेगा। इस प्रकार यदि हम विचार करें तो वास्तवमें इस जगत्में न तो कोई किसीका मित्र है न कोई किसीका शत्रु है, न कोई अपना है न कोई पराया है। जिसको भगवान्ने जो अभिनय करनेका भार सौंपा है, वह वही कर रहा है। भ्रमवश हमलोग इस खेलके रहस्यको न जानकर दुःख उठा रहे हैं। कोई जान ही नहीं सकता, यह भी एक भगवान्की लीला ही है। हाँ, जिसे भगवान् जनाना चाहते हैं, वही जान पाता है और उसे फिर किसी प्रकारका दुःख नहीं रहता। अनेक महात्माओंने इसका अनुभव किया है और आज भी जो ऊँचे महापुरुष हैं, वे भी ऐसा ही अनुभव करते हैं। प्रश्न होता है—ऐसी स्थितिमें क्या किया जाय? इसका उत्तर संक्षेपमें यही है कि इस विश्व-प्रपञ्चके सूत्रधार श्रीकृष्णकी शरण ले ली जाय। फिर जो कुछ उचित अभिनय करना होगा, वे करायेंगे और हमलोग उन्हें देख-देखकर मुग्ध होते रहेंगे। सार बात

इतनी ही है कि आप सचमुच जी-जानसे वर्तमान प्रापञ्चिक जगत्से मनको हटानेकी चेष्टा करें। यहाँकी अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियोंमें कुछ रक्खा नहीं है। आवश्यकता है यावन्मात्र पदार्थोंसे ममता हटाकर भगवान्में ममता करनेकी। इसीमें बुद्धिमानी है। स्मरण रक्खें—सबके लिये समय निश्चित हो चुका है, जब कि सबको सब कुछ छोड़कर चला जाना होगा। उस यात्रामें सच्चा पाथेय है—भगवद्भजन। बस, इसको मुख्य कर लें, और सबको गौण।

आप इतना विश्वास कर लें—'जब मैंने कम-से-कम वाणीके ही द्वारा भगवान्की शरण ले ली है, तब चिन्ताका पात्र कैसे हो सकता हूँ। अब भगवान् मुझपर दया करके एक दिन अपनी असीम अनुकम्पाका अनुभव अवश्य करा देंगे ही।' जीवनमें बहुत-से नाजुक अवसर आते हैं और मनुष्य विपत्तियोंसे घबराकर भगवान्पर विश्वास शिथिल कर लेता है; पर उसके विश्वास शिथिल करनेपर भी जो वस्तुस्थिति है, उसमें थोड़े ही हेर-फेर होगा। आप अच्छी तरह विश्वास कर लें कि जिस प्रकार सूर्यमें यह शक्ति नहीं है कि वह किसीको अन्धकारका दान कर सके, उसी तरह भगवान्में यह शक्ति नहीं है कि वे किसीपर अकृपा कर सकें। यह बात विनोदकी-सी है, किंतु भगवत्कृपा-को किसी अंशमें समझनेके उद्देश्यसे लिखी गयी है।

दयामयका कोई भी विधान मङ्गलसे रहित हो ही नहीं सकता। मङ्गलमयसे निकली चीज अमङ्गल कैसे हो सकती है। सम्भव है, आपके सामने लौकिक दृष्टिसे ऐसी परिस्थितियाँ आ जायँ, जब आपको दर-दरका भिखारी बनकर मारा-मारा फिरना पड़े। लेकिन भगवान्के इस भीषण विधानमें क्या है, जानते हैं? अगर समझमें आ जाय तो आपको भी दुःख नहीं होगा। देखें, यदि ऐसा हुआ तो यह समझना चाहिये कि जगन्नियन्ताके पास पहुँचनेमें अब आपको विलम्ब नहीं है। हम देखते हैं—भूलसे मनुष्य अत्यन्त भयानक चीजको सुखदायक समझकर उसे पाना चाहता है; किंतु दयामयका विधान कुछ ऐसा होता है कि मनुष्य अपने प्रयत्नमें सफल नहीं हो सकता। भगवान् उसकी तरह अबोध नहीं हैं कि उसे मनचाही वस्तु देकर उसका जीवन बर्बाद कर दें। अतएव—'जाही बिधि राखै राम, ताही बिधि रहिये।' अपना योगक्षेमका भार जगन्नियन्ताके हाथ सौंपकर सदाके लिये निश्चिन्त हो जाइये। लोगोंकी दृष्टिमें दीन-हीन होनेपर भी आप शाहंशाह रहेंगे।

### एक ही बात

एक ही बात है—नाम-जप करें। अन्तःकरण पवित्र करनेका, भगवद्दयाकी अनुभूति करनेका इससे सुलभ और शीघ्रफलप्रद साधन मेरी दृष्टिमें और नहीं है।

## धन्य दिन कौन है ?

भाई रे, इन नैनन हरि देखौ।
हरि की भगति, साध की संगति, सोई दिन धनि लेखौ॥
चरन सोइ जे नचत प्रेमसूँ, कर सोई जे पूजा।
सीस सोइ जो नवै साध कूँ, रसना अवर न दूजा॥
यह संसार हाट का लेखा, सब कोइ बनिजहिं आया।
जिन जस लाया तिन तस पाया, मूरख मूल गँवाया॥
आतमराम देह धरि आया, तामें हरि कूँ देखौं।
कहत नामदेव बलि-बलि जैहौं, हरि भजि और न लेखौं॥

# श्रीअरविन्द-शताब्दी-महोत्सवके मङ्गल संदर्भमें श्रीअरविन्द-वाणी

## हमारा स्वतःसिद्ध स्वरूप

यह आत्मा ही हमारा स्वतःसिद्ध स्वरूप है। यह हमारे वैयक्तिक जीवनसे बद्ध नहीं। यह सब भूतोंमें एक, सबमें व्यापक, सबमें सम, अपनी अनन्त सत्तासे अखिल विश्वकर्मका धारण करनेवाला है, पर देश-कालकी परिच्छिन्नतासे परिच्छिन्न होनेवाला नहीं, प्रकृति और व्यष्टिके परिवर्तनोंसे परिवर्तित होनेवाला नहीं। जब हमें अपने अंदर इस आत्माके दर्शन होते हैं, जब हमें उसकी शान्ति और स्थिरताका अनुभव होता है, तब हम उसमें संवर्द्धित हो सकते हैं; हमारा अन्तः-पुरुष अभी जो प्रकृतिमें निमज्जित होकर निम्नतर अवस्थामें आसन जमाये बैठा है, उसकी इस अवस्थाको बदलकर हम उसे आत्माके अंदर पुनः प्रतिष्ठित कर सकते हैं। हम यह कर सकते हैं इन वस्तुओंकी शक्तिसे, जो हमें प्राप्त हुई हैं—स्थिरता, समता, निर्विकार निर्व्यक्तिकता। क्योंकि ज्यों-ज्यों हम इन चीजोंको अपने अंदर अधिकाधिक बढ़ाते हैं, अपने अंदर उनकी पूर्णता ले आते हैं और अपनी सारी प्रकृतिको उनके अधीन करने देते हैं, त्यों-त्यों हम इस स्थिर, सम, निर्विकार, नैर्व्यक्तिक, सर्वव्यापक आत्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। हमारी इन्द्रियाँ उसी स्थिरतामें जा पहुँचती हैं और जगत्‌के स्पर्शोंको महती शान्तिके साथ ग्रहण करती हैं; हमारा मन उसी स्थिरताको प्राप्त होता और शान्त, विराट् साक्षी बन जाता है; हमारा अहंकार इसी नैर्व्यक्तिक सत्तामें विलीन हो जाता है। हम तब सभी चीजें इसी आत्माके अंदर देखते हैं, जो आत्मा हम स्वयं हो गये होते हैं; और हम इस आत्माको सबके अंदर देखते हैं, हम सब भूतोंके साथ उनकी आत्मसत्तामें एकीभूत हो जाते हैं। इस अहंभावशून्य शान्ति और नैर्व्यक्तिकतामें रहते हुए हम जो कर्म करते हैं, वे हमारे कर्म नहीं रह जाते। वे अब अपनी प्रतिक्रियाओंसे हमें किसी भी प्रकारसे न तो बाँध सकते हैं न कोई पीड़ा ही पहुँचा सकते हैं। प्रकृति और उसके गुण अब भी अपने कर्मका जाल बुना करते हैं, पर उनसे हमारी दुःखरहित स्वतःसिद्ध शान्ति भङ्ग नहीं होती। सब कुछ उसी एक सम विराट् ब्रह्मके समर्पित होता है।

परंतु यहाँ दो शङ्काएँ उपस्थित होती हैं। एक यह कि यह शान्त अक्षर आत्मा और प्रकृतिके कर्म, इन दोनोंके बीच एक विरोध प्रतीत होता है। जब हम इस अक्षर आत्मसत्तामें एक बार प्रवेश कर चुके, तब फिर कर्मका अस्तित्व ही कैसे रह सकता है और वह जारी कैसे रह सकता है? उसमें कर्म करनेकी वह इच्छा ही कहाँ है, जिससे हमारी प्रकृतिका कर्म हो सके? यदि हम सांख्यमतके अनुसार यह कहें कि इच्छा प्रकृतिमें होती है, पुरुषमें नहीं, तब भी प्रकृतिमें कर्मके पीछे कोई-न-कोई प्रेरक भाव तो होना ही चाहिये और उसमें वह शक्ति भी होनी ही चाहिये, जिससे वह आत्माको रस, अहंकार और आसक्तिके द्वारा अपने कर्मोंमें खींच सके। और इन चीजोंका आत्मचैतन्यके अंदर प्रतिबिम्बित होना ही जब बंद हो गया, तब प्रकृतिकी वह शक्ति भी जाती रही और उसके साथ-साथ कर्म करनेका प्रेरक भाव भी जाता रहा। परंतु गीता उस मतको स्वीकार नहीं करती, जो मत एक विराट् पुरुषके बजाय अनेक पुरुषोंका होना आवश्यक ठहराता है; क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो यह बात समझमें न आ सकेगी कि किसी पुरुषकी पृथक् आत्मानुभूति और मोक्ष कैसे सम्भव है, जब कि अन्य लाखों-करोड़ों पुरुष बद्ध ही पड़े हैं। प्रकृति कोई पृथक् तत्त्व नहीं, बल्कि परमेश्वरकी ही शक्ति है, जो विश्वरचनामें प्रवृत्त होती है। परंतु परमेश्वर यदि केवल यही अक्षर पुरुष है और व्यष्टि पुरुष केवल कोई ऐसी चीज, जो उसमेंसे निकलकर उस शक्तिके साथ इस सृष्टिमें आयी है, तो जिस क्षण व्यष्टि-पुरुष लौटकर आत्मामें स्थित होगा, उसी क्षण सारी सृष्टिक्रिया बंद हो जायगी, रह जायगी केवल परम एकता और परम निस्तब्धता। दूसरी बात यह कि यदि किसी अचिन्त्य रूपसे कर्म अब भी जारी रहे तो भी आत्मा जब सब पदार्थोंके लिये सम है, तब कर्म हों या न हों और हों तो चाहे जैसे हों, इससे कुछ भी आता-जाता नहीं। ऐसी अवस्थामें यह भयंकर सत्यानाशी कर्म क्यों—यह रथ, यह युद्ध, यह योद्धा, यह भगवान् सारथि किसलिये?

गीता इसका उत्तर देती है यह बतलाकर कि परमेश्वर अक्षर पुरुषसे भी महान् हैं, अधिक व्यापक हैं, वे साथ-साथ यह आत्मा भी हैं और प्रकृतिमें जो कर्म हो रहे हैं, उनके अधीश्वर भी। परंतु वे प्रकृतिके कर्मोंका संचालन करते हैं अक्षर ब्रह्मकी सनातनी अचलता, समता, कर्म और व्यष्टिभावसे अतीत श्रेष्ठतामें स्थित रहते हुए। यही हम कह सकते हैं कि उनकी सत्ताकी वह स्थिति है, जिसमेंसे वे कर्मसंचालन करते हैं और जैसे-जैसे हम इस स्थितिमें

संवर्द्धित होते हैं वैसे-वैसे हम उन्हींकी सत्ता और दिव्य कर्मोंकी स्थितिको प्राप्त होते हैं। इसी स्थितिसे वे अपनी सत्ताकी प्रकृतिगत इच्छा और शक्तिरूपमें निकल आते हैं, अपने आपको सब भूतोंमें प्रकट करते हैं, जगत्‌में मनुष्यरूपसे जन्म लेते हैं, सब मनुष्योंके हृदयोंमें निवास करते हैं, अवताररूपसे अपने आपको अभिव्यक्त करते हैं ( यही मनुष्यके अंदर उनका दिव्य जन्म है ) और मनुष्य ज्यों-ज्यों उनकी सत्तामें संवर्द्धित होता है, त्यों-त्यों वह इसी दिव्य जन्मको प्राप्त होता है। कर्म करने होंगे यज्ञके तौरपर उन्हीं प्रभुके लिये जो हमारे कर्मोंके अधीश्वर हैं और अपने-आपको अपने आत्मस्वरूपमें उन्नत करते हुए हमें अपनी सत्ताके अंदर उनके साथ एकत्व लाभ करना होगा और अपने व्यष्टिभावको इस तरह देखना होगा कि यह उन्हींका प्रकृतिमें आंशिक प्राकट्य है। सत्तामें उनके साथ ऐक्य लाभ करनेसे हम जगत्‌के सब प्राणियोंके साथ एक हो जाते हैं और हम दिव्य कर्म करने लगते हैं—अपने कर्मके तौरपर नहीं, बल्कि लोकसंरक्षण और लोकसंग्रहके लिये हमारे द्वारा होनेवाली उन्हींकी क्रियाके तौरपर।

असलमें करनेकी बात यही है और एक बार जहाँ यह की जा सकी तहाँ जो कोई भी शङ्काएँ अर्जुनके सामने उपस्थित हैं, उन सबका निरसन हो जाता है। प्रश्न फिर हमारे वैयक्तिक कर्मका नहीं रहता; कारण, हमारा व्यक्तित्व जिससे बनता है वह चीज तो फिर केवल इस लौकिक जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली और इसलिये गौण हो जाती है। प्रश्न तब रहता है केवल जगत्‌में हमारे द्वारा भगवदिच्छाके कार्यान्वित होनेका। उसे समझनेके लिये हमें यह जानना होगा कि ये परमेश्वर स्वयं क्या हैं और प्रकृतिके अंदर इनका क्या स्वरूप है, प्रकृतिकी कर्म-परम्परा क्या है और उसका लक्ष्य क्या है और प्रकृतिस्थ पुरुष और इन परमेश्वरके बीच आन्तरिक सम्बन्ध क्या है, ज्ञानयुक्त भक्ति ही जिसकी नींव है।

( 'गीता-प्रबन्ध'से )

## हमारा सनातन धर्म

हमारा धर्म सनातन धर्म है। यह धर्म त्रिविध, त्रिमार्गगामी और त्रिकर्मरत है। हमारा धर्म त्रिविध है। भगवान्‌ने अन्तरात्मा, मानसिक जगत् और स्थूल जगत्‌में—इन्हीं तीन धामोंमें प्रकृतिसृष्ट महाशक्तिचालित विश्वके रूपमें अपने आपको प्रकट किया है। इन्हीं तीन धामोंमें उनके साथ युक्त होनेकी चेष्टा करना सनातनधर्मका त्रिविधत्व है। हमारा धर्म त्रिमार्गगामी है। ज्ञान, भक्ति और कर्म—इन तीन स्वतन्त्र या सम्मिलित उपायोंसे उस युक्तावस्थाको मनुष्य प्राप्त कर सकता है। इन तीन उपायोंसे आत्मशुद्धि करके भगवान्‌के साथ युक्त होनेकी इच्छा करना ही सनातनधर्मकी त्रिमार्गगामी गति है। हमारा धर्म त्रिकर्मरत है। मनुष्यकी सभी प्रधान वृत्तियोंमें जो तीन वृत्तियाँ ऊर्ध्वगामिनी, ब्रह्म-प्राप्ति-बलदायिनी हैं, वे हैं—सत्य, प्रेम और शक्ति। इन्हीं तीन वृत्तियोंके विकासके द्वारा मानवजातिकी क्रमोन्नति साधित होती आ रही है। सत्य, प्रेम और शक्तिके द्वारा त्रिमार्गमें अग्रसर होना ही सनातनधर्मका त्रिकर्म है।

सनातनधर्मके अंदर बहुत-से गौणधर्म निहित हैं। सनातनका अवलम्बन कर महान् और क्षुद्र नाना प्रकारके परिवर्तनशील धर्म अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। सभी प्रकारके धर्म-कर्म स्वभाव-सृष्ट होते हैं। सनातनधर्म जगत्‌के सनातन स्वभावपर आश्रित है और ये नाना प्रकारके धर्म नानाविध-आधारगत स्वभावके फल हैं। व्यक्तिगत धर्म, जातिगत धर्म, वर्णाश्रितधर्म, युगधर्म इत्यादि नाना प्रकारके धर्म हैं। ये सब अनित्य होनेके कारण ही उपेक्षणीय या वर्जनीय नहीं हैं; बल्कि इन्हीं अनित्य परिवर्तनशील धर्मोंके द्वारा सनातन-धर्म विकसित और अनुष्ठित होता है। व्यक्ति-धर्म, जाति-धर्म, वर्णाश्रित धर्म, युगधर्म इत्यादिका परित्याग करनेसे सनातनधर्मकी पुष्टि नहीं होती, बल्कि अधर्मकी ही वृद्धि होती है तथा गीतामें जिसे संकर कहा गया है—सनातन प्रणालीका भङ्ग और क्रमोन्नतिके विपरीत गति, वह वसुंधरा-को पाप और अत्याचारसे दग्ध करता है। जब उस पाप और अत्याचारकी अतिरिक्त मात्रासे मनुष्यकी उन्नतिकी विरोधिनी धर्मनाशिनी आसुरिक शक्तियाँ वर्द्धित और बलशाली होकर स्वार्थ, क्रूरता और अहंकारसे दसों दिशाओंको आच्छन्न कर देती हैं, जगत्‌में अनीश्वर ईश्वरका रूप ग्रहण करना आरम्भ करता है, तब भारार्त्त पृथ्वीका दुःख कम करनेके लिये भगवान्‌के अवतार या विभूति मानव-शरीरमें प्रकट होकर पुनः धर्मपथको निष्कण्टक बनाते हैं।

सनातनधर्मका ठीक-ठीक पालन करनेके लिये व्यक्तिगतधर्म, जातिगतधर्म, वर्णाश्रितधर्म और युगधर्मका आचरण सर्वदा रक्षणीय है। परंतु इन नानाविध धर्मोंके क्षुद्र और महान् दोनों प्रकारके रूप हैं। महान् धर्मके साथ क्षुद्र

धर्मको मिलाकर और संशोधितकर उसका पालन करना श्रेयस्कर है। व्यक्तिगतधर्मको जातिधर्मके क्रोडमें रखकर उसका आचरण नहीं करनेसे जाति नष्ट हो जाती है एवं जातिधर्मके लुप्त हो जानेसे व्यक्तिगत धर्मका क्षेत्र और सुयोग नष्ट हो जाता है। यह भी धर्मसंकर है—जिस धर्मसंकरके प्रभावसे जाति और संकरकारीगण दोनों तल्लीन नरकमें निमग्न होते हैं। सबसे पहले जातिकी रक्षा करनी चाहिये, तभी व्यक्तिकी आध्यात्मिक, नैतिक और आर्थिक उन्नति निरापद बनायी जा सकती है। वर्णाश्रित धर्मको भी युगधर्मके साँचेमें ढालकर यदि उसे गठित न किया जाय तो महान् युगधर्मके प्रतिकूल गतिसे वर्णाश्रित धर्म चूर्ण-विचूर्ण और नष्ट हो जाता है और उसके फलस्वरूप समाज भी चूर-चूर और नष्ट हो जाता है। क्षुद्र सदा ही महान्‌का अंश या सहायक होता है, इस सम्बन्धकी विपरीत अवस्थामें धर्मसंकरसम्भूत घोर अनिष्ट होता है, क्षुद्र धर्म और महान् धर्मके बीच विरोध होनेपर क्षुद्र धर्मका परित्याग कर महान् धर्मका आचरण करना ही मङ्गलप्रद होता है।

हमारा उद्देश्य है सनातनधर्मका प्रचार करना और सनातनधर्माश्रित जातिधर्म और युगधर्मका अनुष्ठान करना। हम भारतवासी आर्यजातिके वंशधर हैं, आर्यशिक्षा और आर्यनीतिके अधिकारी हैं। यह आर्यभाव ही हमारा कुलधर्म और जातिधर्म है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म आर्यशिक्षाके मूल तत्त्व हैं तथा ज्ञान, उदारता, प्रेम, साहस, शक्ति, विनय आर्यचरित्रके लक्षण हैं। मानवजातिको ज्ञान प्रदान करना, जगत्‌में उन्नत उदार चरित्रका निष्कलङ्क आदर्श रखना, दुर्बलकी रक्षा करना, प्रबल अत्याचारीको दण्ड देना आर्यजातिके जीवनका उद्देश्य है। उसी उद्देश्यको सिद्ध करनेमें उसके धर्मकी चरितार्थता है। हम धर्मभ्रष्ट, लक्ष्यभ्रष्ट, धर्मसंकर होकर और भ्रान्तिसंकुल तामसिक मोहमें पड़कर आर्यशिक्षा और आर्यनीतिसे रहित हो गये हैं। हम आर्य होकर शूद्रत्व और शूद्रधर्मस्वरूप दासत्वको अङ्गीकार कर जगत्‌में हेय, प्रबल-पद-दलित और दुःख-परम्पराप्रपीड़ित हो रहे हैं। अतएव यदि हमें जीवित रहना हो, यदि अनन्त नरकसे मुक्त होनेकी लेशमात्र भी अभिलाषा हो तो अपनी जातिकी रक्षा करना हमारा प्रथम कर्तव्य है और जातिरक्षाका उपाय है आर्यचरित्रको पुनः अपने अंदर गठित करना। हमारा पहला उद्देश्य है अपनी समस्त जातिको, विशेषकर युवकसम्प्रदायको ऐसी उपयुक्त शिक्षा, उच्च आदर्श और आर्यभावोद्दीपक कार्य-प्रणाली देना, जिससे जननी-जन्मभूमिकी भावी संतान ज्ञानी, सत्यनिष्ठ, मानव-प्रेमपूर्ण, भ्रातृभावके भावुक, साहसी, शक्तिमान् और विनीत हों। जबतक हम इस कार्यमें सफल नहीं होते, तबतक सनातनधर्मका प्रचार करना केवल ऊसर क्षेत्रमें बीज बोनेके समान है।

जातिधर्मका पालन करनेसे युगधर्मकी सेवा करना सहज हो जाता। यह युग शक्ति और प्रेमका युग है। जब कलिका आरम्भ होता है, तब ज्ञान और कर्म भक्तिके अधीन और सहायक होकर अपनी-अपनी प्रवृत्तिको चरितार्थ करते हैं। सत्य और शक्ति प्रेमका आश्रय लेकर मानवजातिके अंदरप्रेमका विकास करनेकी चेष्टा करते हैं। कलियुगमें सनातनधर्म मैत्री, कर्म, भक्ति, प्रेम, साम्य और भ्रातृ-भावकी सहायता लेकर मनुष्य-जातिका कल्याण साधित करता है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्मके द्वारा गठित आर्यधर्ममें ये ही शक्तियाँ प्रविष्ट और विकसित होकर प्रसारित होने और अपनी प्रवृत्तिको चरितार्थ करनेका मार्ग खोज रही हैं। शक्ति-स्फुरणके लक्षण हैं—कठिन तपस्या, उच्चाकाङ्क्षा और महत्कर्म। जब यह जाति तपस्वी, उच्चाकांक्षी, महत्कर्मप्रयासी होगी, तब यह समझा जायगा कि जगत्‌की उन्नतिके दिन आरम्भ हो गये हैं। धर्मविरोधिनी आसुरी शक्तियोंका ह्रास और दैवशक्तियोंका पुनरुत्थान अवश्यम्भावी है। अतएव इस प्रकारकी शिक्षा भी वर्तमान समयके लिये आवश्यक है।

युगधर्म और जातिधर्मके साधित होनेपर सारे जगत्‌में सनातनधर्म अबाधरूपसे प्रचारित और अनुष्ठित होगा। पूर्वकालसे विधाताने जो निर्दिष्ट किया है, जिसके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें भविष्यवाणी की गयी है, वह भी कार्यमें अनुभूत होगा। समस्त जगत् आर्यदेशसम्भूत ब्रह्मज्ञानियोंके पास ज्ञान-धर्मका शिक्षार्थी बनकर, भारतभूमिको तीर्थ मानकर, अवनत-मस्तक होकर इसका प्राधान्य स्वीकार करेगा। उसी दिनको ले आनेके लिये भारतवासियोंका जागरण हो रहा है, आर्यभावका पुनरुत्थान हो रहा है।

( धर्म और जातीयता'से )

# सङ्गात् संजायते कामः

( लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन' )

गीता भगवद्वाणी है। वह जीव, प्रकृति और भगवत्स्वरूपकी व्याख्या करती है। उसमें सनातन तत्त्व भरे पड़े हैं—ऐसे सत्य, जो कालजयी हैं, युगानुभूत हैं और जिनका जैसे संत और साधकके लिये उपयोग है, उसी प्रकार आजके दिग्भ्रमित, एक भोगवाही सभ्यताकी धारामें डूबते सामान्य मानवके लिये भी है।

आजकी सभ्यता कामनाओंकी सभ्यता है। कामनाओंमें स्वभावतः भोगकी वृत्ति होती है। कामनाएँ अनन्त हैं, एक-से अनेक उत्पन्न होती हैं; इसलिये जो उनके शैवाल-जालमें फँस जाता है, वह कभी तटतक नहीं पहुँचता, सदा बहता ही रहता है। वह बाल्पनमें बहता है, यौवनमें प्रखर धारमें बहता है और बूढ़ा होकर भी बहता है और बहते-बहते ही चुक जाता है। कामनाओंकी जिह्वा उसे चाटकर समाप्त कर देती है। भोग समाप्त नहीं होता, भोगी समाप्त हो जाता है।

परंतु कोई भी आज इसे सुनने-समझनेको तैयार नहीं है। आजकी पत्र-पत्रिकाएँ; आजका साहित्य, आजका समाज, आजकी राजनीति, आजका समस्त परिवेश कामनाके विजय-गानसे गुञ्जित हैं। अभी भोगो, आगेकी मत सोचो,—यह है आजके चिन्तनका स्वर। 'इस पार, जहाँ तुम हो, मधु है; उस पार न जाने क्या होगा ?'

× × ×

कहीं भी नियन्त्रणकी वाणी नहीं है, सर्वत्र भोगोंके लिये अधिकाधिक निर्बन्धपूर्ण माँग है। स्त्री इस भोगका केन्द्रबिन्दु बन गयी है। पता नहीं, भारतीय नारी क्या चाहती है; परंतु जो उसके नामपर बोलते हैं या बोलती हैं, उन सबकी युगोंसे सुननेमें चली आयी, रटी-रटायी शिकायत है कि नारी युगोंसे शृङ्खलाबद्ध है और उसे सब शृङ्खलाएँ तोड़ देनी चाहिये। अब तो यह नारा भी पुराना हो चुका; नया नारा है—सेक्सके फ्रीडमका, यौन-स्वातन्त्र्यका। पत्रिकाओंके आवरण-पृष्ठ, परिधानकी शत-शत भङ्गिमाएँ, दुकानोंकी सजावट, साहित्यकी मंडी, भगवान्‌के नामपर होनेवाले भजन-कीर्तन सर्वत्र, कहीं दबा-दबा, कहीं खुला, कामनाका यही नर्तन और उसके नूपुरोंकी उन्मद ध्वनि सुनायी पड़ती है। सर्वत्र नारीत्वका भयंकर अपमान है; क्योंकि वही है इस कामना-नर्त्तनकी नटी। उसे शिकायत थी और है—शृङ्खलाबद्ध होनेकी; किंतु मुखरित कामनाओंके इन्द्रजालमें फँसी इस नारीको इतनी छोटी-सी बात समझमें नहीं आती कि इस यौन-स्वातन्त्र्यके नाटकमें सबसे अधिक घाटा उसे ही उठाना है और पुरुषकी यौन-कामनाओंको उत्तेजित एवं प्रलुब्ध करनेमें वह पुरुषके ही हाथमें खेलती है, फलतः स्वतन्त्र होनेके नामपर वह और परवश होती जाती है। स्वतन्त्रताके साथ आत्मनियन्त्रणकी शर्त्त लगी है; जो अपनेपर नियन्त्रण नहीं रख सकता, वह सच्चे अर्थोंमें कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकेगा; कभी एकके, कभी दूसरेके हाथमें खेलना ही उसकी नियति है।

आश्चर्य तो यह है कि जो पत्रिकाएँ नारीके अर्द्धनग्न चित्र छापती हैं, यौन-सुखके आकर्षणकी कविताएँ और कहानियाँ छापती हैं, वे ही आधुनिकाओंमें अधिक लोकप्रिय हैं। क्या किसी नारीके गौरवको इस प्रकारके प्रदर्शन चोट नहीं पहुँचाते ? क्या कोई नारी अपने गौरवपर, अपनी गरिमा और महिमापर इस प्रकारके अनधिकार-प्रवेशका अनुभव करती है ? क्या ऐसी पत्रिकाओं या पुस्तकोंका बहिष्कार करनेका यत्न कभी हुआ है ? हमारी आत्मा इतनी दुर्बल हो गयी है कि आज नारी हर जगह बिक रही है—विज्ञापनोंमें, पोस्टरोंमें, दुकानोंमें, सिनेमाके पर्देपर; किंतु सब हैरतमें हैं, बस, चुपचाप देख रहे हैं। कोई बोलता नहीं, विरोध तो क्या करेगा ?

× × ×

कामनाओंके भूतको जगा देना सरल है, किंतु उसे वशमें रखना बहुत कठिन है। हमारे महाकाव्य और धर्म-ग्रन्थ शत-शत उदाहरणोंसे भरे हुए हैं। साधक, संत, योगी, यति, ऋषि और संन्यासी उसकी एक ठोकरमें जन्म-जन्मकी साधनासे गिर गये हैं। महाभारत तथा पुराणोंमें—यहाँतक कि उपनिषद्‌में भी वासना-नटीके नर्त्तन और उसके पद-प्रहारके आगे बड़ों-बड़ोंको विमोहित होते और गिरते देखता हूँ। आँख खोलकर देखनेपर प्रत्येक जागरूक मानव अपने इर्द-गिर्द अनेक ऐसे उदाहरण देख सकता है, जिसमें किसी नारीको बहिन बनाकर रखनेवाला, किसीको माँ कहने और माननेवाला, किसीको बेटी कहनेवाला निरन्तरके

सम्पर्कसे नरकमें गिर गया है । मैं एक ब्रह्मचारी-को जानता हूँ, जिनका पूर्वजीवन त्याग और साधना, कष्ट-सहन एवं तपस्याका जीवन था; उन्हें देखकर ही लगता था कि तपस्याका ज्वलंत अङ्गार हैं । धीरे-धीरे उनका नाम फैला, भावुक एवं अतृप्त नारियोंकी भीड़ लगने लगी। अङ्गार बुझ गया । निराहार-व्रत और तपस्यासे क्षीण देहमें संसर्ग एवं स्पर्शसे कामनाओंके अङ्कुर फूटे, स्वाद आया—जिह्वाका स्वाद, स्पर्शका स्वाद, बुभुक्षित आँखोंकी तृप्ति-का स्वाद और ब्रह्मचारी महन्त हो गया—क्षीण देह स्थूल हो गयी । अब भी वे उपदेश करते हैं, किंतु शब्द खोखले हो गये हैं । वाणीसे अर्थका लोप हो गया है ।

कामना मायारूपिणी है । नाना वेश धरती है । तरह-तरहसे रिझाती है । उर्वशी और मेनका शत-शत रूपोंमें जीवित हैं । तभी संतोंने अनुभवके स्वरमें गाया था—'माया महा ठगिनि हम जानी ।' इसका पथ मधुऋतुके गन्ध-मदिर फूलोंसे लदा हुआ है—ऐसे फूल, जिनको कुचलकर पार चले जानेका साहस प्रभुकी महती कृपासे ही प्राप्त होता है । साधनाकी अवस्थामें इसका बार-बार आक्रमण होता है । मेरे एक मित्र कल आये । वे आधुनिक विचार-धाराके आदमी हैं । बात चली और मैंने जो नियन्त्रणकी बात कही, तो वे उत्तेजित हो गये और प्राचीन कालसे आजतकके उदाहरण दे-देकर लगे हमारी पोल खोलने । 'ये हैं तुम्हारे आश्रम, ये हैं तुम्हारे तीर्थ । तुम ढककर वही सब करते हो, तुम लोग चोर हो, हम उन्हीं बातोंको करनेपर तुम्हारे लिये निम्नकोटिके हैं । वह देखो, फलाने बाबाजीको । उनके सम्पर्कमें आनेवाली श्रद्धालु स्त्रियोंको । उस आश्रमका यह हाल है । धर्मकी आड़में कैसा नग्न वीभत्स काण्ड है । और तुम हो कि उसी ओरसे बोलते हो ।'

जितने उदाहरण उन्होंने दिये, उनसे अधिक मैं दे सकता हूँ । हमारे देशकी सभ्यतामें इस प्रकारके अनुभवोंके सहस्र-सहस्र उदाहरण हैं । कदाचित् इन्हीं अनुभवोंके प्रकाशमें साधकको प्रमदा-संसर्गसे दूर रहने और शरीर तथा मनपर नियन्त्रण रखनेकी शिक्षा दी गयी थी । गृहस्थके लिये भी स्वपत्नीके सिवा नारी-मात्रका वर्जन इसीलिये किया गया था और स्वपत्नीके साथ भी शरीर-साहचर्यकी सीमा बाँध दी गयी थी । यही नहीं, नारीका बाह्य सम्पर्क कम करनेके लिये ही विवाहिताको पतिमें देवत्व तथा उपासनाके अन्य फल उपलब्ध करनेको कहा गया था । अनेक धर्मग्रन्थोंमें जो यह कहा गया है कि विवाहिता पत्नी-को किसी रूपमें भी पर-पुरुष ( भले वह गुरु हो, साधु हो ) के सम्पर्कसे दूर रहना चाहिये, उसके पीछे ऐसे ही उदाहरणोंकी अनुभव-वाणी है । केवल दृष्टि और समझकी बात है । कभी बन्धन और नियन्त्रण भी हितकारी होता है और कभी स्वतन्त्रता विनाशकी ओर ले जाती है । मुख्य बात है जीवनमें शान्ति और सुख पानेकी । और यह निश्चित है कि जीवनकी प्रणाली और परिवेश जितना ही सरल होगा, उतना ही सुख सहज होगा और जीवन जितना ही जटिल, उलझा हुआ होगा, सुख-शान्ति उतनी ही दूर होगी । भारतीय नारीने किसी समय इसे समझा था और वह अपने बन्धन और नियन्त्रणमें भी महिमामयी थी; वह समर्पण करके भी पुरुषपर शासन करती थी । वह अपने घरकी स्वामिनी थी, दासी नहीं । दासी वह तभी हुई, जब उसने स्वरूप-बोधको विस्मृत कर दिया, जब वह अपने-को भूल गयी ।

× × ×

हाँ, तो बात चली थी गीताकी इस भगवद्वाणीसे कि सङ्गसे ही कामकी, कामनाकी उत्पत्ति होती है और यह उत्पत्ति इतने धीरे-धीरे होती है कि आदमी स्वयं कुछ समझ नहीं पाता कि वह जा कहाँ रहा है । उसे होश तब होता है, जब वह बहुत दूर निकल जाता है और चाहकर भी प्रत्यावर्त्तन नहीं कर पाता । पहले घटनावश किसी स्त्रीसे भेंट होती है । बात मामूली है । किंतु न जाने क्यों उसकी स्मृति मनको कुरेदती रहती है । वह स्त्री बार-बार मनमें आती है, फिर उसे अधिकाधिक देखनेकी इच्छा होती है । जितना देखते हैं, और देखनेका मन करता है । कामना-का रथ आगे चलता है । उसके निकट होने, उससे बात-चीत करनेका मन होता है । फिर एकान्त-मिलनकी, किसी बहानेसे एकत्र होनेकी इच्छा होती है । अब बिना देखे, बिना बात किये एक प्रकारकी बेचैनी रहने लगती है । यही है सर्वनाशके राजपथपर लगा मीलका पत्थर । जहाँ मनमें अशान्ति आयी, समझ लो कि तुम मृत्युके पथपर हो । अब अपनेपर तुम्हारा वश समाप्त हो रहा है । यदि बचना चाहते हो तो उस सम्बन्धको एक झटकेमें तोड़ दो, वहाँ-से भाग खड़े हो—दूर चले जाओ; नहीं तो कामना अपने शत-शत फंदोंमें तुम्हें जकड़ लेगी । जरा भी तरह न

दो अपनेको । आसङ्ग—लिप्साको तोड़े विना कामना टूटेगी नहीं।

मेरी बात सुनकर लोग हँस देते हैं, कहते हैं—यह जीवनसे दूरकी बात है, इस सागरमें यह नहीं हो सकता। मैं कहता हूँ कि जो मैं कहता हूँ, वही जीवनका राजमार्ग है। अपनेको धोका न दो। आज जब नगरकी हाट-बाटमें, चौराहोंपर चलते हुए पथकी हर मोड़पर कामनाकी अग्नि प्रज्वलित करनेवाली सामग्री बिखरी हुई है; जब सहस्र-सहस्र भ्रू-भङ्गिमाएँ और श्रृङ्गार-विधाएँ हमसे टकराती हैं और हमारे यौवनको, हमारे जीवनको संस्कारभ्रष्ट करनेके लिये तत्पर हैं, तब हमें अपनी रक्षा, अपने स्वरूप-बोधके प्रति अधिक जागरूक होनेकी आवश्यकता है। आज सामाजिक जीवनका जो परिवेश है, उसमें यह तो सम्भव नहीं कि परायी स्त्रीसे परिचय, सम्भाषण और सम्पर्क न हो; वह तो अब स्वाभाविक हो गया है। किंतु यह परिचय, सम्भाषण और सम्पर्क अत्यन्त निजी और एकान्त होनेकी अभिलाषा न हो, इतना ही आवश्यक है।

जीवनकी कुञ्ज-गलियाँ हों या राज-पथ, सर्वत्र चलते हुए गीताकी चेतावनी याद रक्खो—

सङ्गात् संजायते कामः।

# संसारका स्वरूप

( लेखक—स्वामीजी श्रीहरिनामदासजी वेदान्ती )

**'मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥'**

हिंदी एवं संस्कृत साहित्यमें उपलब्ध होनेवाले ग्रन्थोंमें संसारको रोग, सागर, कूप, बन्धन इत्यादि शब्दोंद्वारा निर्देश किया गया है, यथा—**'भवरोगवैद्यम्'** **'भवसागर चह पार जो पावा,' 'ते न परहिं भव कूपा', 'भव-बन्धन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम।'** —इत्यादि। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि वह कौन-सा संसार है, जिसका उक्त नामोंसे निर्देश किया गया है। यदि 'संसार' शब्दसे ईश्वर-निर्मित इस दृश्यमान जगत्का तात्पर्य लिया जाय तो एक व्यक्तिका भवरोग निवृत्त होनेपर या उसके लिये भव-सागरके सूख जानेपर अथवा किसी एक व्यक्तिके भव-बन्धनसे छूट जानेपर प्राणीमात्रके लिये संसारकी समाप्ति हो जानेसे सभी जीवोंको एक ही कालमें मुक्त हो जाना चाहिये। परंतु यह होता नहीं, इसलिये संसारको दो प्रकारका मानना पड़ेगा—(१) ईश्वरकृत और (२) जीवकृत। जीवद्वारा निर्मित संसार प्रत्येक प्राणीका अपना-अपना अलग है। इसी जीवकृत संसारको मिथ्या कहा गया है—

यथा—

**यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।**

'जिन भगवान् श्रीरामकी सत्तासे यह सम्पूर्ण जगत् उसी प्रकार सत्य भासता है, जैसे रज्जुमें सर्पका भ्रम।'

**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।***

तथा—**'झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग, संत कहंत, जो अंत लहा है।'**

ईश्वरकृत समष्टि-व्यष्टिरूप परिवर्तनशील जगत्को ऋषियोंने सत्य माना है—

यथा—**'इदं सत्यमिदं सत्यं सत्यमेतदिहोच्यते।'**
(यह जगत् सत्य है, यह सत्य है, इसे यहाँ सत्य कहा जाता है।)

**'रामः सत्यं परं ब्रह्म रामात्किंचिन्न विद्यते।'**

'राम ही सत्य वस्तु, परब्रह्म है; रामसे भिन्न कुछ नहीं है।'

**तस्माद्रामस्य रूपं हि सत्यं सत्यमिदं जगत्।**

( सनत्कुमारसंहिता )

'अतः यह जगत्, जो रामका रूप है, सत्य है, निश्चय ही सत्य है।'

इसलिये ईश्वरकृत जगत्का मिथ्या-रूपमें अथवा रोगादिके रूपमें निर्देश नहीं कर सकते।

* ब्रह्म सत्य है, जगत् झूठा है!

जीवकृत संसार क्या है, इसका स्पष्टीकरण श्रीव्यासजीने महाभारतमें किया है। द्वादशवर्षीय वनवासके समय यक्ष ( श्रीधर्मराज ) के—

**'को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्था का च वार्तिका।'**

( ३ । ३१३ । ११४ )

'समाचार क्या है? अचम्भा क्या है? मार्ग कौन-सा है और सुखी कौन है?'

इन चार प्रश्नोंका उत्तर देते हुए महाराज युधिष्ठिरजीने 'का वार्तिका'—इस प्रश्नके उत्तररूपमें बताया—

**अस्मिन् महामोहमये कटाहे**
**सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।**
**मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन**
**भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥**

( वही, ३ । ३१३ । ११८ )

'इस मोहमय संसाररूप कड़ाहेमें सूर्यरूप अग्निसे उसमें अहोरात्ररूपी ईंधन डालकर ऋतु और मासरूपी कलछुलासे चलाते हुए कालरूपी रसोइया प्राणियोंको पकाता—उनका संहार करता रहता है, यही वार्ता ( समाचार ) है।'

तात्पर्य यह है कि जीवका मोह ( अज्ञान ) ही संसार है।

श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें मानस-रोगोंका निरूपण करते हुए कवि-सम्राट् पूज्यपाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने बताया है—

**मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तेहि तें पुनि उपजहिं बहु सूला॥**

और मोहका कारण है—अज्ञानमूलक सम्बन्ध; बिना सम्बन्धके मोह नहीं होता।

**'यावद्यस्य हि सम्बन्धो ममत्वं तावदेव हि।'**

'जिसका जितनी दूरतक सम्बन्ध है, उतनी दूरतक उसके ममत्वकी भावना रहती है और जिसके प्रति मेरापन है, उसीके प्रति मोह है।'

**मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया॥**

श्रीमद्भागवतमें भी श्रीशुकदेवजीने लिखा है—

**क्व देहो भौतिकोऽनात्मा क्व चात्मा प्रकृतेः परः।**
**कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम्॥***

( ८ । १६ । १९ )

सम्बन्ध जोड़कर अपना मानना ही संसार बनाना है। यही बन्धन या भवरोग है। शास्त्र कहते हैं—

**द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।**
**ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते॥**

'ममताशून्यता और ममता—ये ही क्रमशः मोक्ष और बन्धनके कारण हैं। ममता करनेसे जीव बँध जाता है और ममताका त्याग करनेसे बन्धनमुक्त होता है। श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्धमें श्रीपरीक्षित्‌जीके प्रश्नपर भगवद्यशोगानको भवरोगकी औषध बताते हुए श्रीशुकदेवजीने कहा है—

**'भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।'** ( १० । १ । ४ )

इसी प्रकार सत्सङ्गकी महिमाका वर्णन करते हुए श्रीव्यासजीने लिखा है—

**भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन**
**सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै।**
**अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-**
**नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥**

( भागवतमा० २ । ७६ )

'जब अनेक जन्मोंके अर्जित पुण्यसे मनुष्यको सत्सङ्ग मिलता है, तब उसके अज्ञानकृत मोहरूपी घने अन्धकारको चीरकर विवेकरूपी सूर्यका उदय होता है।'

श्रीरामचरितमानसमें भी—

**'बड़ें भाग पाइय सतसंगा। बिनहिं प्रयास होइ भव भंगा॥'**
**'बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।'**
**'महामोह महिषेस बिसाला। रामकथा कालिका कराला॥**
**महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर।'**

—इत्यादि स्थलोंमें मोहको ही भवरोग या बन्धन माना गया है। तभी हृदयस्थ मोहकी निवृत्ति पूर्वोक्त

* कहाँ यह पञ्चभूतोंसे बना हुआ अनात्मा शरीर और कहाँ प्रकृतिसे परे आत्मा! कौन किसके पति, पुत्र आदि हैं? मोह ही सारे सम्बन्धोंका प्रयोजक है।

उपायोंसे सम्भव है, अन्यथा बाहर दृश्यमान जगत्का नाश सत्सङ्ग इत्यादिसे सम्भव नहीं ।

इसीलिये बिना सम्बन्धके ईश्वरकृत संसारके किसी भी प्राणीके विषयमें सुखद या दुःखद समाचार पानेपर भी, वैसी सुख या दुःखकी अनुभूति नहीं होती, जैसी अपने किसी सम्बन्धीके विषयमें सुननेपर होती है; जिसका संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं है, वह इसी ईश्वरकृत संसारमें रहते हुए भी मोह-रहित होनेसे जीवन्मुक्त कहा जाता है—जैसे शुकदेव मुनि, श्रीहनुमान्‌जी इत्यादि ।

अतः जीवकृत मोहमय संसारका ही भवरोग इत्यादि शब्दोंद्वारा सद्ग्रन्थोंमें निर्देश किया गया है ।

# रामकथा और राष्ट्रीयता

( लेखक—डॉ० श्रीदेवकीनंदनजी श्रीवास्तव )

मर्यादापुरुषोत्तम राम विश्वात्मा हैं, परात्पर परमात्माके नरावतार हैं, पर साथ ही वन्दनीया भारतभूमिके अमृतपुत्र, अतः भारतकी राष्ट्रात्मा भी हैं । आदिकवि महर्षि वाल्मीकिसे लेकर व्यास, कालिदास, गोस्वामी तुलसीदास और आधुनिक रामकाव्यकार मैथिलीशरण गुप्ततककी भारतीय कवि-परम्पराने रामकथाद्वारा जनजन-व्यापिनी विराट् राष्ट्रीय चेतनाका प्रतिनिधित्व किया है । रामकथा स्वयं परात्पर ब्रह्मके रामावतारकी गाथामात्र न होकर विश्वमें भारतीय राष्ट्रीयताके सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक दिग्विजयकी गाथा है । भक्ति, संस्कृति, काव्य और इतिहासके अनेक भव्य चित्र, जो रामायणमें प्रस्तुत किये गये हैं, किसी-न-किसी अंशमें राष्ट्रीय भावनाकी गरिमाको सँभाले हुए हैं ।

राष्ट्रीयताका स्वरूप मूलतः जननी, जन्मभूमि एवं मातृभाषाके प्रति अखण्ड आस्था और अपने राष्ट्रकी लोकपरम्परा एवं शास्त्र-मर्यादाके प्रति गहन गौरवदृष्टिकी अखण्डतामें व्यक्त होता है । भगवान् रामका अवतार ही धरतीकी पुकारपर सम्पूर्ण विश्वके हृदयस्वरूप भारतदेशमें हुआ था । इस देशके ऋषियों और मुनियोंके तपःपूत व्यक्तित्वके द्वारा उस दिव्य वातावरणका सृजन हुआ था, जिसके भीतर परम भागवती शक्तिका जन-जीवन और स्थूल प्रकृतिमें अवतरण सम्भव हो । अतः यह परम स्वाभाविक था कि रामकथाके व्यापक परिवेशमें राष्ट्रीयताकी सहज अभिव्यक्ति हो ।

रामकथाका स्वरूप ही अपने आपमें राष्ट्रीय स्तरपर, भावात्मक एकताके विराट् भावजगत्‌पर प्रतिष्ठित है । रामके शीलमें भारतका शील, रामके सौन्दर्यमें भारतका सौन्दर्य और रामकी शक्तिमें भारतकी शक्ति अपनी चरम पूर्णताके साथ चरितार्थ हुई है । अयोध्यासे एकाकी चलकर केवल अनुज और अर्द्धाङ्गिनीके साथ वन-वनमें भटककर राष्ट्रीय जीवनकी विघटनकारी परिस्थितियोंसे परिचय प्राप्त करके सारी पृथ्वीको राक्षसहीन करनेका दृढ़ संकल्प लेकर वानर-भालुओंकी वन्य जातियोंके संगठनद्वारा आत्मनिर्भर राष्ट्र-सेनाका संघटन, राक्षस-संहारके द्वारा अनाचारका दमन तथा लोकमङ्गलकारी सर्वसुखवैभवसम्पन्न आदर्श रामराज्यकी स्थापना जिस नाटकीय वैविध्यके साथ रामायणमें वर्णित है, वह अनेक अंशोंमें राष्ट्रीय दृष्टिकोणका परिचायक है ।

कथा-संघटन, बिम्ब-योजना और चरित्र-चित्रण—सभीके माध्यमसे रामायणका राष्ट्रीय स्वर मुखरित हुआ है । आदिकविने 'समुद्र इव गाम्भीर्ये' और 'धैर्येण हिमवानिव' की उपमानयोजनाद्वारा भगवान् रामके अतल गाम्भीर्य और अचल धीरत्वका जो विराट् बिम्ब खींचा है, वह कविके राष्ट्रप्रेमसे ही अनुप्राणित है । तुलसीके 'हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा' में भी इसीकी ध्वनि है ।

वालिवधके प्रसङ्गमें भगवान् राम वालीके वधौचित्यका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'सशैलवनकानना' यह भूमि इक्ष्वाकुवंशियोंकी है और हम सम्पूर्ण वसुधाको धर्ममयी करनेके लिये विचरण कर रहे हैं । उनके इस राज्यमें 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का संदेश गूँज रहा है—

इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना ।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहप्रग्रहेष्वपि ॥
× × ×
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसंतानमिच्छवः ॥
( वा० रा० ४ । १८ । ६, ९ )

कपिराज सुग्रीव सीताकी खोजके लिये वानरोंको विभिन्न दिशाओंमें भेजते समय जिस विशदताके साथ देशके विविध प्राकृतिक स्थलोंका विस्तृत निर्देश और संकेत करते हैं, उसमें तो सारे देशका ही नहीं, जैसे सारे संसारका भौगोलिक परिचय

साररूपमें आ गया है। यह भी इस देशकी राष्ट्रीयताके पीछे विद्यमान विराट् भौगोलिक पृष्ठभूमिका द्योतक है।

लक्ष्मणके प्रति रामके मातृभूमि-प्रेमकी व्यञ्जना तो जैसे राष्ट्रीयताकी सहज परिभाषा ही है—

अपि स्वर्णमयी लङ्का न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

'स्वर्गादपि गरीयसी' जन्मभूमिके प्रति अखण्ड निष्ठा ही तो राष्ट्रीयताकी आत्मा है। गोस्वामीजीके रामचरितमानसमें अवधपुरीको वैकुण्ठसे भी अधिक प्रिय घोषित करते हुए भगवान् रामने जो उद्गार व्यक्त किये हैं, वे भी प्रकारान्तरसे राष्ट्रीय भावनाके परिचायक हैं—

सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा॥
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥
(रा० मा० ७। ३। १–२½)

उन्होंने 'मानस' में देशकी सभी प्रमुख नदियोंका गौरवके साथ स्मरण किया है—

'सुरसरि सरसइ दिनकर कन्या। मेकलसुता गोदावरि धन्या॥'
(रा० मा० २। १३८)

'पावन गंग तरंग माल से' तथा 'धन्य देस सो जहँ सुरसरी' कहकर गोस्वामीजीने अपने देश भारतकी महिमाका गान किया है। 'कवितावली'के अन्तर्गत 'भलि भारतभूमि, भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहि कै' (का० ७। ३२)—जैसी पङ्क्तियोंमें स्वदेशके प्रति गौरव एवं स्वाभिमान-का भाव निर्दिष्ट है। 'रामचरितमानस' को 'नानापुराण-निगमागमसम्मत' रूपमें प्रस्तुत करनेका संकल्प भी विशाल राष्ट्रकी विशाल शास्त्र-इतिहास-परम्पराके प्रति अटूट निष्ठाका परिचायक है।

भगवान् रामको आसेतु-हिमाचल भारतभूमिसे अनुराग है, उसके कण-कणमें उनका हृदय रमता है। अयोध्या, मिथिला, तीर्थराज प्रयाग, चित्रकूट, दण्डकारण्य, किष्किन्धा, सुवेल, लवणसागर—सभी उन्हें प्रिय हैं। उत्तरकी अयोध्या ही नहीं, दक्षिणका समुद्री अञ्चल भी उन्हें अत्यन्त आकर्षक लगता है। सेतुबन्धके उपरान्त 'रामेश्वर शम्भु'की स्थापनाका संकल्प जगानेवाला उनका हर्षविशपूर्ण यह उद्गार कितनी मार्मिकतासे भरपूर है।

'परम रम्य उत्तम यह धरनी। महिमा अमित जाइ नहिं बरनी॥'
(मानस ६। १। १½)

इस देशके पर्वत, नदियाँ, मैदान, वन और सिन्धु—सभी उनका चित्त मुग्ध कर लेते हैं।

सपरिकर लङ्कासे लौटते हुए पुष्पकयानमें आसीन भगवान् राम यमुना, गङ्गा, प्रयाग आदिकी महिमाका मुक्त-कण्ठसे वर्णन करते हुए जब अवधपुरीको सीतासमेत प्रणाम करते हैं, तब उनके नयन सजल हो जाते हैं, तन पुलकित हो उठता है और हृदयमें बार-बार हर्षकी हिलोरें उठने लगती हैं—राष्ट्रीयता और देशप्रेमकी इससे अधिक भावात्मक अनुभूति और क्या हो सकती है—

बहुरि राम जानकिहि देखाई। जमुना कलि मल हरनि सुहाई॥
पुनि देखी सुरसरी पुनीता। राम कहा प्रनाम करु सीता॥
तीरथपति पुनि देखु प्रयागा। निरखत जन्म कोटि अघ भागा॥
देखु परम पावनि पुनि बेनी। हरनि सोक हरि लोक निसेनी॥
पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि। त्रिबिध ताप भव रोग नसावनि॥

सीता सहित अवध कहुँ कीन्ह कृपाल प्रनाम।
सजल नयन तन पुलकित पुनि पुनि हरषित राम॥
(रा० मा० ६। ११९। २।४½, १२०)

प्रजानुरञ्जनकारी राष्ट्रनायकद्वारा शासित सर्वशक्ति-सुखसम्पन्न राज्यमें ही राष्ट्रीयताका पूर्ण परिपाक सम्भव है। रामकथाके अन्तर्गत रामराज्यके आदर्शमें इसकी चरम प्रतिष्ठा की गयी है। श्रीमद्भागवतकार व्यासकी वाणीमें अपने चरित्रसे लोकको प्रेरणा देनेवाले धर्मज्ञ राजर्षि रामका राष्ट्रीय आदर्श मूर्तिमान् हो उठा है—

त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत्।
रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे॥
वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपसिन्धवः।
सर्वे कामदुघा आसन् प्रजानां भरतर्षभ॥
नाधिव्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयक्लमाः।
मृत्युश्चानिच्छतां नासीद् रामे राजन्यधोक्षजे॥
एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः।
स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत्॥
(श्रीमद्भा० ९। १०। ५२–५५)

'परीक्षित्! जब समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाले परम धर्मज्ञ भगवान् श्रीराम राजा हुए तब था तो त्रेतायुग; परंतु मालूम होता था मानो सत्ययुग ही है। परीक्षित्! उस समय

वन, नदी, पर्वत, वर्ष, द्वीप और समुद्र—सब-के-सब प्रजाके लिये कामधेनुके समान समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले बन रहे थे। इन्द्रियातीत भगवान् श्रीरामके राज्य करते समय किसीको मानसिक चिन्ता या शारीरिक रोग नहीं होते थे। बुढ़ापा, दुर्बलता, दुःख, शोक, भय और थकावट नाममात्रके लिये भी नहीं थे। यहाँतक कि जो मरना नहीं चाहते थे, उनकी मृत्यु भी नहीं होती थी। भगवान् श्रीरामने एकपत्नीका व्रत धारण कर रक्खा था। उनके चरित्र अत्यन्त पवित्र एवं राजर्षियोंके-से थे। वे गृहस्थोचित स्वधर्मकी शिक्षा देनेके लिये स्वयं धर्मका आचरण करते थे।

यज्ञ भारतीय राष्ट्रजीवनकी पवित्र ज्वालाके प्रतीक हैं। कालिदासके 'रघुवंश'में अगस्त्यकी यज्ञाग्निके प्रति लङ्का-विजयके उपरान्त पुष्पक विमानसे लौटते हुए भगवान् रामने अपार श्रद्धा व्यक्त की है। वे सीतासे कहते हैं कि यशस्वी ऋषिकी हवन-सामग्रीकी गन्धसे मिश्रित धुआँ विमानके पासतक उठा चला आ रहा है; जिसे सूँघते ही मेरी आत्मा पवित्र हो गयी है। साक्षात् लोकपावन परमात्माके अवतार भगवान् रामकी आत्मा जिस यज्ञके धुएँसे पवित्रताका अनुभव करे, उसके मूलमें राष्ट्रीयताका गूढ़ तत्त्व विद्यमान है—

त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम्।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा॥
(रघुवंश १३। ३७)

रामकथाको राष्ट्रभाषाके माध्यमसे लोकप्रिय अभिव्यक्ति देनेवाले आधुनिक काव्य-जगत्में वैष्णव राष्ट्रकवि 'साकेत'-स्रष्टा मैथिलीशरण गुप्त अग्रगण्य हैं। गुप्तजीकी वाणीने 'साकेत'के आरम्भिक सर्गमें ही 'धन्य भगवद्भूमि-भारतवर्ष है' कहकर अपनी राष्ट्रीय प्रेरणाका उद्‌घोष किया है। अयोध्यासे वनके लिये प्रस्थान करते समय भगवान् रामने जननी-जन्मभूमिके प्रति जो रोमाञ्चकारी उद्गार व्यक्त किये हैं, उनमें मानो देशप्रेम ही रामके रूपमें साकार हो उठा है। इतना मर्मस्पर्शी चित्र सम्पूर्ण रामकथा-साहित्यमें दुर्लभ है—

जन्मभूमि! ले प्रणति और प्रस्थान दे,
हमको गौरव, गर्व तथा निज मान दे।
तेरे कीर्तिस्तम्भ, सौध, मन्दिर यथा,
रहें हमारे शीर्ष समुन्नत सर्वथा॥

× × ×

हममें तेरे व्याप्त विमल जो तत्त्व हैं—
दया, प्रेम, नय, विनय, शील, शुभ सत्त्व हैं,
इन सबका उपयोग हमारे हाथ है—
सूक्ष्मरूपमें सभी कहीं तू साथ है।
तेरा स्वच्छ समीर हमारे श्वासमें,
मानसमें जल और अनल उच्छ्‌वासमें।
अनासक्तिमें सतत नभःस्थिति हो रही,
अविचलतामें बसी आप तू है यही।
गिर-गिर, उठ-उठ, खेल-कूद, हँस-बोलकर,
तेरे ही उत्सङ्ग-अजिरमें डोलकर,
इस पथमें है सहज हुआ चलना हमें,
छल न सकी वह लोभ-मोह-छलना हमें।

अपने राष्ट्रके इतिहासके सांस्कृतिक वैभवके प्रति भगवान् राम श्रद्धावनत हैं और वे कहते हैं कि लाख महत्त्व प्राप्त करनेपर भी मातृभूमिके लिये वे शिशुके सदृश ही हैं। यदि वे विष्णु हैं तो मातृभूमि ही उनका दुग्ध-धाम (क्षीरसागर) है। उनके लिये साकेत जन्मभूमि होनेके नाते स्वर्गसे भी उत्कृष्ट है और सच्चे अर्थमें अयोध्या (अजेय) है। मातृ-भूमिके प्रति स्वयं उन्हींके शब्द हैं—

तू भावोंकी चारु चित्रशाला बनी,
चारित्र्योंकी गीत-नाट्यमाला बनी।
तू है पाठावली अर्थ-कुल-कर्मकी,
पत्र-पत्रपर छाप लगी ध्रुव धर्मकी।
चलना-फिरना और विचरना हो कहीं,
किंतु हमारा प्रेम-पालना है यहीं।
हो जाऊँ मैं लाख बड़ा नरलोकमें,
शिशु ही हूँ तुझ मातृभूमिके ओकमें।

× × ×

हम अपने तुझ दुग्ध-धामके विष्णु हैं,
हैं अनेक भी एक, इसीसे जिष्णु हैं।

रामके जन्मभूमि-प्रेमका सुकुमार और हृदयस्पर्शी चित्र अङ्कित करनेवाली ये पङ्क्तियाँ कितनी सटीक हैं—

मैं हूँ तेरा सुमन, चढूँ-सरसूँ कहीं,
मैं हूँ तेरा जलद, बढूँ-बरसूँ कहीं।

× × ×

स्वर्गोपरि साकेत! रामका धाम तू,
रक्षित रख निज उचित अयोध्या नाम तू।
(५ वाँ सर्ग)

इसी प्रकार साकेतके द्वादश सर्गमें हनुमान्से सीताहरण एवं लक्ष्मण-मूर्च्छाका समाचार पानेपर तपस्वी भरत तथा अयोध्यावासियोंका जो रोषावेश शत्रुके प्रति व्यक्त हुआ है, उसमें भी राम-रावण-युद्ध-प्रसङ्गको एक राष्ट्रीय संघर्षका रूप प्रदान किया गया है—सीताको भरत सिन्धुके पार राक्षसोंके बन्धनमें पड़कर विलखती हुई 'भारत-लक्ष्मी' के रूपमें देखते हैं और उनकी रक्षाके लिये उद्विग्न हो शत्रुघ्नसे कह उठते हैं—

भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसोंके बन्धनमें,
　सिन्धु-पार वह बिलख रही है व्याकुल मनमें।
बैठा हूँ मैं भण्ड साधुता धारण करके-
　अपने मिथ्या भरत 'नाम' को नाम न धरके।
कलुषित कैसे शुद्ध सलिलको आज करूँ मैं,
　अनुज ! मुझे रिपुरक्त चाहिये, डूब मरूँ मैं।
× × ×
सजे अभी साकेत, बजे, हाँ, जयका डंका।
रह न जाय अब कहीं किसी रावणकी लङ्का॥

राष्ट्र-लक्ष्मीके रक्षार्थ देशभक्तका रुधिर खौल उठना भी राष्ट्र-प्रेमके ओज-पक्षके उभारका द्योतक है। अनाचारीके प्रति इसी राष्ट्रीय रोषका ओजभरा स्वर गम्भीर, सांस्कृतिक मर्यादाके भीतर निम्नलिखित पङ्क्तियोंमें मुखर हुआ है—

भरतखण्डका द्वार विश्वके लिये खुला है।
मुक्ति-मुक्तिका योग जहाँपर मिला-जुला है॥
पर जो इसपर अनाचार करने आवेंगे।
नरकोंमें भी ठौर न पाकर पछतावेंगे॥

देवदुर्लभा शस्यश्यामला मातृभूमिके प्रति उर्मिलाकी भावाभिव्यक्ति देखिये—

'किस धनसे हैं रिक्त कहीं, सुनिकेत हमारे ?
　उपवन फल-सम्पन्न, अन्नमय खेत हमारे।
जय पयस्य-परिपूर्ण सुघोषित घोष हमारे,
　अगणित आकर सदा स्वर्ण-मणि-कोष हमारे॥
देव-दुर्लभा भूमि हमारी प्रमुख पुनीता।
　उसी भूमिकी सुता पुण्यकी प्रतिमा सीता॥
मातृभूमिका मान ध्यानमें रहे तुम्हारे।
　लक्ष-लक्ष भी एक लक्ष रक्खो तुम सारे॥
है निज पार्थिव-सिद्धि-रूपिणी सीता रानी।
　और दिव्य फल रूप राम राजा बलदानी॥
× × ×

विन्ध्य और हिमालय हमारे राष्ट्रीय गौरव एवं स्वाभिमान तथा गङ्गा-यमुना, सिन्धु-सरयू हमारे स्वर्णिम इतिहासके ज्वलंत प्रतीक हैं। उनकी ओर लक्ष्य करती हुई उर्मिला अयोध्याके वीरोंसे कहती हैं—

विन्ध्य-हिमालय-भाल, भला, झुक जाय न, धीरो।
　चन्द्र-सूर्य-कुल-कीर्ति-कला रुक जाय न, वीरो।
चढ़कर उतर न जाय, सुनो, कुल-मौक्तिक मानी,
　गङ्गा-यमुना-सिन्धु और सरयूका पानी।
बढ़कर इसी प्रसिद्ध पुरातन पुण्यस्थलसे,
　किये दिग्विजय बार-बार तुमने निज बलसे।
(द्वादशसर्ग)

× × ×

चित्रकूटमें विराजे हुए रामने अपने अवतारका लक्ष्य स्पष्ट करते हुए जो संदेश दिया है, उसके पीछे भी 'रामकथामें' व्याप्त राष्ट्रीय जीवनका प्रवाह झाँक रहा है—'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का संकल्प-स्वर उनमें गूँज रहा है—

बहु जन वनमें हैं बने ऋक्ष वानर-से,
　मैं दूँगा अब आर्यत्व उन्हें निज करसे।
× × ×
उच्चारित होती चले वेदकी वाणी,
　गूँजे गिरि-कानन-सिन्धु-पार कल्याणी।
अम्बरमें पावन होम-धूम घहरावे,
　वसुधाका हरा दुकूल भरा लहरावे।
(साकेत-अष्टम सर्ग)

इस प्रकार राघवेन्द्र राम सच्चे अर्थोंमें भारतके परम राष्ट्रपुरुष हैं और उनकी लोकमङ्गलविधायिनी कथा भारतीय राष्ट्रीयताकी परम भव्य गाथा है।

# श्रीराधा-माधव-प्रेम-माधुरी

सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका आनन्दस्वरूप या ह्लादिनी शक्ति ही श्रीराधाके रूपमें प्रकट है। श्रीराधाजी स्वरूपतः भगवान् श्रीकृष्णके विशुद्धतम प्रेमकी ही अद्वितीय घनीभूत नित्य स्थिति हैं। ह्लादिनीका सार प्रेम है, प्रेमका सार मादनाख्य महाभाव है और श्रीराधाजी मूर्तिमती मादनाख्य महाभावरूपा हैं। वे प्रत्यक्ष साक्षात् ह्लादिनी शक्ति हैं, पवित्रतम नित्य वर्द्धनशील प्रेमकी आत्मस्वरूपा अधिष्ठात्री देवी हैं। कामगन्धहीन, स्वसुखवाञ्छा-वासना-कल्पना-गन्धसे सर्वथा रहित, श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यमयी, श्रीकृष्णसुखजीवना श्रीराधाका एकमात्र कार्य है—त्यागमयी पवित्रतम नित्य सेवाके द्वारा श्रीकृष्णका आनन्दविधान। श्रीराधा पूर्णतमा शक्ति हैं, श्रीकृष्ण परिपूर्णतम शक्तिमान् हैं। शक्ति और शक्तिमान्‌में भेद तथा अभेद दोनों ही नित्य वर्तमान हैं। अभेदरूपमें तत्त्वतः श्रीराधा और श्रीकृष्ण अनादि, अनन्त, नित्य, एक हैं और प्रेमानन्दमयी दिव्यलीलाके रसास्वादनार्थ अनादिकालसे ही नित्य दो स्वरूपोंमें विराजित हैं। श्रीराधाका मादनाख्य महाभावरूप प्रेम अत्यन्त गौरवमय होनेपर भी मदीयतामय मधुर स्नेहसे आविर्भूत होनेके कारण सर्वथा ऐश्वर्यगन्धशून्य है। वह न तो अपनेमें गौरवकी कल्पना करता है न गौरवकी कामना ही। सर्वोपरि होनेपर भी वह अहंकारादि-दोष-लेशशून्य है। यह मादनाख्य महाभाव ही राधा-प्रेमका एक विशिष्ट रूप है। राधाजी इसी भावसे आश्रयनिष्ठ प्रेमके द्वारा प्रियतम श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं। उन्हें उसमें जो महान् सुख मिलता है, वह सुख श्रीकृष्ण 'विषय' रूपसे राधाके द्वारा सेवा प्राप्त करके जिस प्रेम-सुखका अनुभव करते हैं, उससे अनन्तगुना अधिक है। अतएव श्रीकृष्ण चाहते हैं कि मैं प्रेमका 'विषय' न होकर 'आश्रय' बनूँ, अर्थात् मैं सेवाके द्वारा प्रेम प्राप्त करनेवाला 'विषय' ही न बनकर सेवा करके प्रेमदान करनेवाला भी बनूँ; मैं आराध्य ही न बनकर, आराधक भी बनूँ। इसीसे श्रीकृष्ण नित्य राधाके आराध्य होनेपर भी स्वयं उनके आराधक बन जाते हैं। जहाँ श्रीकृष्ण प्रेमी हैं, वहाँ श्रीराधा उनकी प्रेमास्पदा हैं और जहाँ श्रीराधा प्रेमिकाके भावसे आविष्ट हैं, वहाँ श्रीकृष्ण प्रेमास्पद हैं। दोनों ही अपनेमें प्रेमका अभाव देखते हैं और अपनेको अत्यन्त दीन और दूसरेका ऋणी अनुभव करते हैं; क्योंकि विशुद्ध प्रेमका यही स्वभाव है।

रस-साहित्यमें अधिकांश रचनाएँ ऐसी ही उपलब्ध होती हैं, जिनमें श्रीकृष्ण प्रेमास्पदके रूपमें और श्रीराधा प्रेमिकाके रूपमें चित्रित की गयी हैं। परंतु श्रीभाईजीके अन्तःकरणसे जिन भावोंका पद्यरूपमें प्राकट्य हुआ है, उनमें पचासों पद ऐसे हैं, जिनमें श्रीकृष्ण श्रीराधाको अपनी प्रेमास्पदा मानकर उन्हें प्रेमकी स्वामिनी और अपनेको प्रेमका कंगाल स्वीकार करते हैं और पर्याप्त पद ऐसे भी हैं, जिनमें श्रीराधा अपनेको अत्यन्त दीना और श्रीकृष्णको प्रेमके धनी रूपमें स्वीकार करती हैं। उन पदोंमें प्रेमिगत दैन्य और प्रेमास्पदकी महत्ता देखने योग्य है। नीचे हम उन्हीं पदोंमेंसे दो पद अर्थसहित ऐसे दे रहे हैं, जिनमें श्रीकृष्णके श्रीराधाके प्रति प्रेमोद्गार तथा दो पद ऐसे दे रहे हैं, जिनमें श्रीराधाके श्रीकृष्णके प्रति प्रेमोद्गार हैं। पाठक गहराईमें जाकर यदि इन पदोंके भावोंको ग्रहण करनेका प्रयास करेंगे तो उन्हें पता लगेगा कि श्रीराधा-कृष्णके प्रेमका स्वरूप कितना पवित्रतम, समर्पणपूर्ण तथा दिव्य है। इस प्रेमको आदर्श मानकर प्रेममार्गके साधक अपना मार्ग निश्चय करें और श्रीराधा-माधवके चरणोंमें प्रेम प्राप्त करें।

( १ )

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

( राग जंगला—ताल कहरवा )

हे राधे वृषभानुनन्दिनी, मम मन-नन्दिनि सुषमागार।
तेरी परम सुखद सुस्मृति ही है मेरी जीवन-आधार॥
कनक-गौर अनुपम वर तनपर नील वसन नव रहा विराज।
अङ्ग-अङ्ग अति मधुर मनोहर सजे सकल विधि सुन्दर साज॥
वदन-सरोज प्रफुल्ल, सौरभित, नवपीयूष मधुर मकरन्द।
रहते सदा अतृप्त पान-रत मधुलोभी मम नयन-मिलिन्द॥
रासेश्वरि, रस-रास-विलासिनि, मनमोहनि, निर्मल सुख सार। तेरी०

बिम्बाधर अति मधुर सुधा-रस-भरित, ललित शुचि गोल कपोल।
रत्नद्युति-भासित, श्रुति-रञ्जन परम सुशोभित कुण्डल लोल॥
कुटिल नयन कज्जल-अनुरञ्जित, अति विशाल, रसभरे, ललाम।
बङ्किम भ्रुकुटि पञ्चशर-शर-सी सुघड़ नासिका शोभाधाम॥
परमाह्लादिनि ह्लादिनि श्यामा प्रेम-सुधा-रस-उदधि अपार। तेरी०

मधुकर-कृष्ण, मनोहर, चिक्कण चिकुर सुशोभित वेणि अनूप।
सुमन सुगन्धित गुँथे मनोरम, मणिमय मुकुट, विलक्षण रूप॥
नित नव अनुरागिणि, बड़भागिनि, भूषण विविध विराजित अङ्ग।
वक्ष उतुंग कञ्चुकी-शोभित, शीश चूनरी मोहन रंग॥
चिबुक मनोहर, कम्बु-कण्ठ, कमनीय कुसुम-मुक्ता-मणिहार। तेरी०

मन्द उदर रेखात्रय-राजित, नाभि गभीर-मधुर-अभिराम।
कृश कटि सुन्दर किङ्किणि शोभित, कर-पद मेंहदी रची सुठाम॥
सकल कला निधि, गुण-निधि, गुण-वर्णन-अक्षम श्रुति-शारद-शेष।
मन्मथ-मन्मथ-मानस-मन्थिनि सदा सुहागिनि सुन्दर वेश॥
नित्य-निकुञ्जेश्वरि नव-कुञ्जविहारिणि करती नित्य विहार। तेरी०

हे वृषभानुकुमारी श्रीराधे ! हे अतिशय शोभाकी आलय !! मेरे मनको आनन्दित करनेवाली तेरी परम सुखदायिनी स्मृति ही मेरे जीवनकी आधार है।

तेरे स्वर्णिम-गौर, अनुपम, उत्तम कलेवरपर नया नीला वस्त्र सुशोभित है। अत्यन्त मधुर, मनोहारी अङ्ग-प्रत्यङ्ग सभी प्रकारकी साज-सज्जासे सजे हुए हैं। तेरा प्रफुल्लित, सुगन्धयुक्त मुख-कमल नवीन सुधारूपी मधुर मकरन्दसे प्रपूरित है, मधुके पिपासु मेरे नेत्र-भ्रमर सदैव जिसको पीते-पीते भी अतृप्त बने रहते हैं। हे

रसमय रास-विलास करनेवाली, मनको मोहित करनेवाली रासेश्वरी ! तू विशुद्ध सुखकी साररूपा है। तेरी परमसुखदायिनी स्मृति ही मेरे जीवनकी आधार है।

पके हुए बिम्बफलके समान लाल-लाल तेरे अधर अत्यन्त मधुर सुधारससे पूर्ण हैं, मञ्जुल पवित्र गोल-गोल गाल हैं। रत्नोंकी आभासे उज्ज्वल, कानोंकी शोभा बढ़ा देनेवाले अत्यन्त सुशोभित चञ्चल कुण्डल हैं। अत्यन्त विशाल, रससे पूर्ण, मनोरम, काजलसे अँजे हुए तिरछे नेत्र हैं। टेढ़ी भौंहें हैं तथा कामदेवके बाणकी आकृतिवाली शोभाधाम सुघड़ नासिका है। हे परम आह्लाददायिनी ह्लादिनीरूपा श्यामा ! तू अपार प्रेमामृत-रस-समुद्ररूपिणी है। तेरी परम सुखदायिनी स्मृति ही मेरे जीवनकी आधार है।

भ्रमर-पङ्क्तिके समान काले, मनोहारी, चिकने बालोंकी अनुपम चोटी शोभित हो रही है। उसमें मनोहारी सुगन्धयुक्त पुष्प गुँथे हैं। विचित्र सौन्दर्ययुक्त मणिजटित मुकुट है। तू नित्यनवीन अनुरागसे युक्त है, सौभाग्य-शालिनी है। तेरे अङ्ग-अङ्गमें अनेकों आभूषण विराजमान हैं। तेरे उन्नत वक्षःस्थलपर कञ्चुकी शोभा दे रही है। सिरपर मोह लेनेवाले रंगकी चूनरी ओढ़ रखी है। मनको हरनेवाली ठुड्डी है। शङ्खकी आकृतिवाला कण्ठ है, जिसपर मनोरम पुष्पों तथा मोती-मणियोंके हार सुशोभित हैं। तेरी परम सुखदायिनी स्मृति ही मेरे जीवनकी आधार है।

त्रिवलीयुक्त मन्द उदर है। मनोहारी मधुर गम्भीर नाभिदेश है। सुन्दर करधनीसे सुसज्जित पतली कमर है। हाथ-पैरोंमें सुन्दर मेंहदीका रंग सुशोभित है। तू समस्त कलाओंकी आलय एवं गुणोंकी खान है। तेरे गुणोंके वर्णनमें श्रुतियाँ, सरस्वती देवी तथा शेषजी भी असमर्थ रहते हैं। तू कामदेवके मनको मथ डालनेवाले मुझ श्रीकृष्णके मनको भी आलोडित कर देती है। सदा सौभाग्यवती तथा सुन्दर वेश धारण किये रहती है। हे नित्य निकुञ्जकी स्वामिनी, नवीनकुञ्जोंमें विहार करनेवाली, राधे ! तू नित्य ही विहार-परायणा है। तेरी परमसुखदायिनी स्मृति ही मेरे जीवनकी आधार है।

( २ )

*श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति*

( लावनी तर्ज—ताल कहरवा )

हे प्रियतम ! माधुर्य-सुधानिधि ! रस-सागर, प्राणोंके प्राण।
नित्य निवास करो मेरे उर-मन्दिर, निरुपम प्रेमनिधान॥

नव-नीरद-नीलाभ श्याम तन, पीत वसन वर रहा विराज।
वय किशोर, कमनीय कान्ति, सच्चिन्मय वपु, सब सुन्दर साज॥
मधुर, मनोहर, दिव्य सौरभित, अति सुकुमार अङ्ग-प्रत्यङ्ग।
अतुल रूप-रस-सिन्धु-बिन्दुसे रूप-समन्वित अमित अनङ्ग॥
ललित त्रिभङ्ग, कमल-दल-लोचन, मोचन मायारचित विधान।
नित्य०

चारु चन्द्रिका भूपित कुञ्चित कुन्तल, मृगमद-तिलक सुभाल।
कम्बु-कण्ठ शोभित मुक्ता-मणि, तुलसी-वन-कुसुमोंकी माल॥
कौस्तुभमणि-श्रीवत्स-विभूषित वक्षःस्थल मनहरण, विशाल।
अरुणिम मधुर अधर मुरलीधर, त्रिभुवनमोहन यशुमति-लाल॥
परमहंस मुनि-जन मन मोहनि सोहनि मन्द मधुर मुसकान।
नित्य०

श्रवण-सुशोभित कुण्डल छवि अति झिलमिलात शुचि रुचिर कपोल।
चिबुक चित्तहर, प्रेम-सुधा-रस-भरे मनोहर मीठे बोल॥
उन्नत कंध, विशाल भुजा सुन्दर मृणाल-सम, शोभाधाम।
नित नवीन सौन्दर्य सुधामय मुख-सरोज मोहन अभिराम॥
प्रेमानन्द-तरंगित विग्रह, रास-रसिक, रसधाम सुजान।
नित्य०

अङ्ग सकल आभरण विभूपित, दिव्य द्युति, अति सुषमागार।
कोमल, कान्त, सुशान्त, दमन दुख, दिव्य, सुखप्रद, परम उदार॥
व्रजयुवतीजन मन आकर्षक, रूपराशि, नव नित्यकिशोर।
नन्दानन्दन, सखा-प्राणधन, जड-चेतन सबके चितचोर॥
मेरे हृदयेश्वर, रस-पान-रसिक, शुचि करते रसका दान।
नित्य०

हे माधुर्यामृतसागर, रससमुद्र, प्राणोंके प्राण प्रियतम! हे अतुलनीय प्रेमके आगार श्यामसुन्दर! तुम मेरे हृदयरूपी मन्दिरमें नित्य निवास करो।

तुम्हारा नवीन जलदके समान नीलश्याम-कान्तियुक्त कलेवर है। उसपर उत्तम पीताम्बर सुशोभित है। किशोर वय है, रमणीय आभा है, सच्चिदानन्दमय देह है, सारे शृङ्गार सुन्दर हैं, तुम्हारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग अत्यन्त मधुर, मनोहर, दिव्य-सुगन्धयुक्त एवं अत्यन्त सुकोमल हैं। तुम्हारे ही अतुलनीय सौन्दर्य तथा रसके समुद्रकी एक बूँदको पाकर अनेकों कामदेव सौन्दर्ययुक्त होते हैं। सुन्दर त्रिभङ्गमुद्रा है, नेत्र कमलदलों-जैसे हैं। तुम्हारा यह स्वरूप-दर्शन मायानिर्मित विधानसे मुक्ति दिलानेवाला है। हे अनुपमेय प्रीति-सागर श्यामसुन्दर! मेरे हृदय-मन्दिरमें अविचल निवास करो।

सुन्दर मोरपंखसे सुशोभित तुम्हारे घुँघराले बाल हैं, सुन्दर ललाटपर कस्तूरीका तिलक है। शङ्खके समान उतार-चढ़ाववाले तुम्हारे कण्ठपर मोतियों, मणियों, तुलसी तथा वनपुष्पोंसे विरचित मालाएँ सुशोभित हैं। तुम्हारा मनोहारी सुविशाल वक्षःस्थल कौस्तुभनामक रत्न तथा श्रीवत्सके चिह्न ( श्वेत रोमावर्तसे ) सुशोभित है। अरुणवर्णके मधुर अधरोंपर तुम मुरली धारण किये हो। हे यशोदानन्दन! तुम त्रैलोक्यको मोहित कर लेनेवाले हो। तुम्हारी सुहावनी, मन्द-मन्द मधुर मुस्कान परमहंस मुनियोंके मनको भी मोहित कर लेती है। हे निरुपम प्रेमसमुद्र श्यामसुन्दर! मेरे हृदय-मन्दिरमें सदैव बसे रहो।

तुम्हारे कानोंमें अत्यन्त छवियुक्त कुण्डल शोभा दे रहे हैं। वे तुम्हारे पवित्र सुन्दर कपोलोंमें देदीप्यमान हो रहे हैं। तुम्हारी ठुड्डी चित्तको चुरा लेनेवाली है। मीठे वचन प्रेमके अमृत-रससे परिपूर्ण एवं मनको लुभानेवाले हैं। ऊँचे कंधे हैं, शोभाकी आगार सुन्दर मृणालके समान कोमल विशाल भुजाएँ हैं। तुम्हारा मुख कमल नित्य नवीन सौन्दर्यामृतसे पूर्ण, मोहक तथा अत्यन्त कमनीय है। तुम्हारा श्रीविग्रह प्रेमके आनन्दसे हिल्लोलित रहता है। तुम रास-रसिक, रसके आलय, सुजान-शिरोमणि हो। हे निरुपमेय प्रेम-निधान श्यामसुन्दर! मेरे हृदय-गृहमें सदाके लिये बस जाओ।

तुम्हारे सारे अङ्ग गहनोंसे सुसज्जित, अलौकिक शोभायुक्त तथा अत्यन्त सुषमाके आगार हैं। कोमल, सुन्दर, सुशान्त, दुःखका दमन करनेवाले, अलौकिक आनन्द प्रदान करनेवाले तथा अत्यन्त आकर्षक हैं। आप सौन्दर्यकी राशि, नित्य नवीन कैशोर्ययुक्त तथा व्रजयुवतियोंके मनको आकर्षित कर लेनेवाले हैं। हे नन्दजीको आनन्द प्रदान करनेवाले, सखाओंके प्राणधन, श्यामसुन्दर! तुम जड-चेतन सभीके चित्तको चुरा लेनेवाले हो। हे रसपानके रसिक मेरे हृदयेश्वर! तुम सभीको पवित्र रसका दान करते रहते हो। हे निरुपमेय प्रेमकी खान श्यामसुन्दर! तुम नित्य मेरे हृदय-मन्दिरमें निवास करो।

( ३ )

*श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति*

( राग कालिंगड़ा—ताल कहरवा )

आतुर मैं अत्यन्त सदा तुमसे मिलनेको रहता।
मनकी बात किसीसे पर मैं कभी नहीं कुछ कहता॥
मेरी वह आत्यन्तिक आतुरता आकर्षित करती।
तुमको तुरत खींचकर मेरे तन-मनमें है भरती॥
भीतर-बाहर तुम्हें प्राप्तकर मैं निहाल हो जाता।
मधुमय स्पर्श तुम्हारा पाकर मेरा 'मैं' खो जाता॥
रह जाती हो एक तुम्हीं, अपनी ही महिमा लेकर।
मुझे मिला लेती अपनेमें अपना सब कुछ देकर॥
हो जाते हम एक उसी क्षण, पृथक् भान मिट जाता।
अतुल, अनिर्वचनीय, अचिन्त्यानन्त प्रेम छा जाता॥
किससे कौन मिले हैं, किसके कौन प्रिया-प्रियतम हैं?
जान नहीं पाते, कह पाते नहीं, कौन तुम-हम हैं?
सदा एक थे, सदा एक हैं, एक सदैव रहेंगे।
नहीं सुनेंगे कभी किसीकी, कुछ भी नहीं कहेंगे॥

प्रियतमे श्रीराधे! मैं तुमसे मिलनेको सदा ही अत्यन्त आतुर बना रहता हूँ, परंतु मैं अपने मनकी बात कभी किसीसे नहीं कहता। मेरी वह अतिशय अधीरता ही तुम्हारे मनमें मेरे प्रति आकर्षण उत्पन्न करती तथा तुम्हें तुरंत मेरे पास खींचकर मेरे तन-मनमें भर देती है। मैं तुम्हें भीतर-बाहर प्राप्त करके निहाल हो

जाता हूँ। तुम्हारा मधुर स्पर्श प्राप्त करके मेरा मैंपना लुप्त हो जाता है। एक तुम्हीं अपनी महिमासहित बनी रह जाती हो। अपना सर्वस्व मेरी भेंट करके मुझे अपनेमें ही मिला लेती हो। उसी क्षण हम एक बन जाते हैं। हमारा भेदज्ञान लुप्त हो जाता है। अतुलनीय, अनिर्वचनीय, अचिन्त्य तथा अनन्त प्रेम छा जाता है। हम यही नहीं जान पाते कि किससे किसका मिलन हो रहा है, किसकी प्रिया कौन है और किसके प्रियतम कौन हैं। यह भी नहीं बतला सकते, हम-तुम कौन हैं। हम सदैव एक थे, सदा एक हैं, सदा ही एक बने रहेंगे। कभी भी किसीकी बात नहीं सुनेंगे, कुछ भी नहीं बोलेंगे।

( ४ )

*श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति*

( राग जंगला—ताल कहरवा )

**तन कौ कन-कन मेरौ होवै तेरे सुख कौ साधन।**
**प्रतिपल जीवन में होवै, बस, तेरौ सुख-आराधन॥**
**परम लाभ मेरौ सुख तेरौ, तेरौ सुख अतुलित धन।**
**तेरे सुख के अमित दुखों में कटें सभी दुख-बन्धन॥**
**मोकूँ मिलें ब्याधि, पीड़ा, अपमान, नरक, भव-बन्धन।**
**तोकूँ जदि सुख होय नैकु जो बिन तैं हे जीवनधन!॥**
**तौ वे ब्याधि-जातना सगरी करि अति सुख-संपादन।**
**देयँ परम आनंद मोय, करि तुच्छ मुक्ति-सुख तेइ छन॥**
**बुद्धि रमै तेरे सुख में, मन रत नित तुव सुखचिंतन।**
**बिसरै अन्य कल्पना, उर में छाय रहै तुव सुख-घन॥**
**प्रियतम-सुख अति मधुर नित्य सर्वत्र दिब्य सुख पावन।**
**प्रियतम-सुख हो प्रियतम हूं तैं अधिक सुखद, मनभावन॥**

हे प्रियतम श्रीकृष्ण! मेरी यह अभिलाषा है कि मेरे शरीरका कण-कण तुम्हारे सुखका साधन बना रहे। मेरे जीवनमें प्रत्येक पल, बस, तुम्हारे सुखकी ही आराधना होती रहे। तुम्हारा सुख ही मेरे लिये परम लाभ है। तुम्हारा सुख ही मेरे लिये अतुलनीय सम्पत्ति है। तुम्हारे सुखके हेतु मुझे मिलनेवाले अनेकों दुःखोंसे मेरे समस्त दुःख-बन्धन ही कट जायँ। हे जीवन-धन! मुझे रोग, पीड़ा, अपमान, नरक-यातना एवं सांसारिक बन्धन प्राप्त होते रहें, यदि तुम्हें उनसे तनिक भी सुख प्राप्त होता हो। उस अवस्थामें वे समस्त रोग एवं यातनाएँ अत्यन्त सुख उत्पन्न करके मुझे परम आनन्द प्रदान करें। उस क्षण मोक्ष-सुख भी मुझे तुच्छ लगे। मेरी बुद्धि तुम्हारे सुखमें ही रमण करती रहे, मन नित्य तुम्हारे सुखके चिन्तनमें ही लीन रहे। अन्य सभी कल्पनाएँ विस्मृत हो जायँ। हृदयमें तुम्हारा सुखरूप मेघ ही छाया रहे। प्रियतमका सुख ही मेरे लिये अत्यन्त मधुर एवं सर्वत्र पवित्र दिव्य सुखरूप बन जाय; यही नहीं, प्रियतमका सुख स्वयं प्रियतमसे भी अधिक सुखदायी तथा मनको भला लगनेवाला हो।

# 'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क—'श्रीविष्णु-अङ्क'

## [ सम्मान्य लेखक महानुभावोंसे सादर प्रार्थना ]

मार्च १९७२ के अङ्कके टाइटिलके अन्तिम पृष्ठोंपर प्रकाशित निवेदनसे 'कल्याण'के सम्मान्य पाठक-पाठिकाओं—महात्माओं, विद्वानों एवं विचारकोंको यह ज्ञात हो ही गया होगा कि आगामी वर्ष ( जनवरी १९७३ ) के विशेषाङ्कके रूपमें 'श्रीविष्णु-अङ्क'के प्रकाशनका निश्चय हुआ है । विशेषाङ्कमें कौन-कौन-से विषय रहेंगे, इसका दिग्दर्शन करानेके लिये एक संक्षिप्त विषय-सूची नीचे दी जा रही है । सम्मान्य लेखक महानुभाव चाहें तो विषयसूचीके अतिरिक्त श्रीविष्णु-सम्बन्धी किसी अन्य विषयपर भी लेख भेज सकते हैं । लेख स्पष्ट, सुवाच्य, संक्षिप्त एवं विषयसे सम्बद्ध होना चाहिये तथा हाशिया छोड़कर, पङ्क्तियोंके बीचमें पर्याप्त अन्तर देकर पन्नेके एक ही ओर लिखा हुआ होना चाहिये । लेख हिंदी, संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती अथवा अंग्रेजी—किसी भी भाषामें लिखा हुआ हो सकता है ।

सैकड़ों लेखोंको पढ़ने तथा उनमेंसे छापनेयोग्य सामग्रीको छाँटने, सजाने, चित्र तैयार कराने तथा एक लाख पैंसठ हजार अङ्क मुद्रित करनेमें लगभग ५-६ महीनेका समय अपेक्षित होता है । अतएव लेखक महानुभावोंसे विनीत प्रार्थना है कि वे अपनी बहुमूल्य रचनाएँ अधिक-से-अधिक जुलाईके अन्ततक अवश्य भेज दें, जिससे अङ्क समयपर तैयार हो सके । विलम्बसे आनेवाली रचनाओंको उचित स्थानपर सजाने अथवा उन्हें स्वीकार करनेमें कठिनाई होगी । लेखक महानुभावोंसे प्रार्थना है कि लेख भेजनेका कष्ट वे ही करें, जिनका विषयपर अधिकार हो, जो लेखनकलासे परिचित हों तथा जो अपने भावोंको सुचारुरूपसे एवं सुपाठ्यरूपमें व्यक्त कर सकें । आशा है, सम्मान्य लेखक महानुभाव सदाकी भाँति अपना उदार सहयोग हमें प्रदान करेंगे । लेख फुलस्केप साइजके कागजपर एक ओर लिखा या टाइप हुआ होना चाहिये । तथा सामान्यतः तीन-चार पृष्ठोंका होना चाहिये ।

—चिम्मनलाल गोस्वामी

## 'श्रीविष्णु-अङ्क'की प्रस्तावित संक्षिप्त विषय-सूची

१—श्रीश्रीविष्णु-तत्त्व
२—निर्गुण और सगुण तत्त्वकी एकता और भेद
३—भगवान् विष्णुकी निर्गुणताका तात्पर्य
४—शुद्ध सत्त्व ( सत्त्वगुणरूप और परब्रह्म गुणातीत ) विष्णु
५—भगवान् विष्णु और सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात, सबीज-निर्बीज समाधि
६—पुराणपुरुष विष्णु
७—विष्णु परतत्त्वरूपमें
८—कारण विष्णु
९—महाविष्णु
१०—'मङ्गलं भगवान् विष्णुः'
११—'सर्वं विष्णुमयं जगत्'
१२—'आत्मा वै नारायणः'
१३—'यज्ञो वै विष्णुः'
१४—'अग्निर्वै देवानां प्रथमो विष्णुः परमः'
१५—श्रीश्री-तत्त्व
१६—शक्ति और शक्तिमान्की एकता और भेद
१७—सृष्टिकर्ममें विष्णुका स्थान
१८—'विष्णोः शक्तिर्हि पालनी' ( विश्वके पालक देवता विष्णु)
१९—अव्याकृत विष्णु, रुद्र आदि
२०—त्रिदेवोंका स्वरूप और कार्य
२१—शिव-विष्णुकी एकता

२२–'विष्णुर्विकल्पोज्झितः'
२३–भगवान् विष्णुका विराट्रूप
२४–युगभेदसे भगवान् विष्णुके विभिन्न रूप और उनकी आराधना
२५–आयुधभेदसे भगवान् विष्णुके विभिन्न विग्रह और उनके नाम आदि
२६–भगवान् विष्णुके आयुध—सुदर्शन चक्र, शार्ङ्गधनुष, कौमोदकी गदा आदि
२७–विष्णुके परिधान एवं आभूषण
२८–भगवान् विष्णुके अनन्त तथा अचिन्त्य गुणगण
२९–विष्णु-शब्दका लक्ष्यार्थ एवं वाच्यार्थ
३०–विष्णु-नामकी महिमा
३१–विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं हरिम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण रोगान् सर्वान् व्यपोहति ॥
३२–विष्णुसहस्रनाम
३३–अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्　।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥
३४–भगवान् विष्णुके हरि, नारायण, वासुदेव आदि मुख्य १०८ नाम
३५–शेषशायी विष्णु, विश्वकी उत्पादनी शक्ति, नाभिपद्म, ब्रह्माजीकी उत्पत्ति तथा उनके द्वारा विश्वसृष्टि
३६–भगवान् विष्णुका धर्म-संस्थापन-कार्य और लोक-रक्षा
३७–भगवान् विष्णुकी विविध लीलाएँ
३८–वृन्दा-चरित्र—वृन्दापर भगवान् विष्णुकी कृपा
३९–'तद्विष्णोः परमं पदम्'
४०–विष्णुके लोक—वैकुण्ठ, श्वेतद्वीप, क्षीरसागर आदि
४१–विष्णुलोक—वैकुण्ठका द्वार ध्रुवलोक
४२–ज्योतिषशास्त्रमें विष्णुलोककी स्थिति, शिशुमार-चक्र तथा ध्रुव, सप्तर्षिगण आदिकी स्थिति
४३–अवतार-सिद्धान्त
४४–अवतार-बीज
४५–अवतारोंके भेद—पुरुषावतार, गुणावतार, अंशावतार, कलावतार, विभवावतार, प्राभवावतार, आवेशावतार, अर्चावतार आदि
४६–अवतार एवं उनके प्रयोजन आदि
४७–विभिन्न अवतार एवं उनकी शक्तियाँ
४८–भगवान् विष्णु सनकादि रूपमें
४९–भगवान् विष्णु वराहरूपमें
५०–भगवान् विष्णु नारदरूपमें
५१–भगवान् विष्णु नर-नारायणरूपमें
५२–भगवान् विष्णु कपिलरूपमें
५३–भगवान् विष्णु दत्तात्रेयरूपमें
५४–भगवान् विष्णु यज्ञपुरुषरूपमें
५५–भगवान् विष्णु ऋषभदेवरूपमें
५६–भगवान् विष्णु पृथुरूपमें
५७–भगवान् विष्णु मत्स्यरूपमें
५८–भगवान् विष्णु कूर्मरूपमें
५९–भगवान् विष्णु धन्वन्तरिरूपमें
६०–भगवान् विष्णु मोहिनीरूपमें
६१–भगवान् विष्णु नृसिंहरूपमें
६२–भगवान् विष्णु वामनरूपमें
६३–भगवान् विष्णु परशुरामरूपमें
६४–भगवान् विष्णु व्यासरूपमें
६५–भगवान् विष्णु रामरूपमें
६६–भगवान् विष्णु बलरामरूपमें
६७–भगवान् विष्णु कृष्णरूपमें
६८–भगवान् विष्णु बुद्धरूपमें
६९–भगवान् विष्णु कल्किरूपमें
७०–भगवान् विष्णु हंसरूपमें
७१–भगवान् विष्णु हयग्रीवरूपमें
७२–भगवान् विष्णु धर्मरूपमें
७३–भगवान्के अनन्त अवतार
७४–भगवान्के पूर्णावतार
७५–राम और कृष्ण विष्णुके अवतार हैं या विष्णुके आराध्य ?
७६–भगवान् विष्णुकी शक्तियाँ—श्रीदेवी, भूदेवी, लीला ( नीला ) देवी
७७–गङ्गादेवी और सरस्वती देवी आदि
७८–भगवान् विष्णुके पार्षद, परिकर तथा परिच्छद आदि
७९–भगवान् विष्णुके दास, सखा, वाहन, आसन, रथ और ध्वजा आदि
८०–द्वादश परम भागवतोंका परिचय

८१—'वैष्णवानां यथा शम्भुः'
८२—भगवान् विष्णुके चतुर्व्यूह—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध और उनके कार्य
८३—जय और विजय
८४—महाभागवत अम्बरीष
८५—गरुड़ और सुपर्ण
८६—प्रजापतिगण और उनका प्रजापालन-कार्य
८७—महाभागवत ध्रुव
८८—महाभागवत प्रह्लाद
८९—महाभागवत बलि
९०—महाभागवत गजेन्द्र
९१—महाभागवत शुकदेव
९२—महाभागवत अग्निविन्दु, राजर्षि जनक इत्यादि
९३—महाभागवत द्रौपदी, कुन्ती, पाण्डवगण इत्यादि
९४—महाभागवत भीष्म
९५—आळ्वार संत
९६—मध्ययुगके प्रमुख विष्णु-भक्त
९७—आधुनिक कालके प्रमुख विष्णु-भक्त
९८—विष्णुके साक्षात्कारके साधन
९९—योगदर्शनके अनुसार भगवान् विष्णुकी आराधना-विधि और वैष्णव-लोकोंकी प्राप्तिके उपाय
१००—विष्णुकी ध्यान-विधि आदि
१०१—विष्णुके मन्त्र
१०२—विष्णुकी सकाम-निष्काम उपासना और उनका फल
१०३—श्रीलक्ष्मीनारायणकी युगलोपासना
१०४—वैष्णवोंकी पूजा-विधि
१०५—विविध वैष्णव-व्रत, उनकी अनुष्ठान-विधि और फल
१०६—वैष्णवोंके चार प्रमुख जयन्ती-व्रत—श्रीरामनवमी, श्रीनृसिंह-जयन्ती, श्रीकृष्णजन्माष्टमी एवं श्रीवामन-जयन्ती
१०७—एकादशीव्रत-विधि एवं माहात्म्य
१०८—भगवान् विष्णुके अष्टाक्षर-मन्त्रके पुरश्चरणकी विधि
१०९—भगवान् विष्णुके द्वादशाक्षर-मन्त्रके पुरश्चरणकी विधि
११०—वैष्णव भक्तिके नौ भेद
१११—भगवान् शालग्राममें विष्णुका आविर्भाव और उनकी आराधना
११२—शालग्रामके अनेक भेद और फल
११३—विष्णुभक्तोंके विभिन्न भाव
११४—विष्णु-मन्दिरकी निर्माण-विधि
११५—विष्णु-मन्दिरके जीर्णोद्धारका फल
११६—भगवान् विष्णुके विविध अवतारोंकी प्रतिमाओंका निर्माण एवं स्थापन
११७—तुलसी-महिमा, पूजाविधि आदि
११८—विष्णुध्वजका परिचय एवं माहात्म्य
११९—विष्णु-सम्बन्धी उत्सव
१२०—विष्णु और वैष्णव
१२१—वैष्णवोंके सदाचार
१२२—वैष्णव-धर्ममें शुद्धि
१२३—वैष्णव-धर्ममें अहिंसा
१२४—'वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीड़ पराई जाणे रे'
१२५—वेदोंमें भगवान् श्रीविष्णु
१२६—आगमोंमें भगवान् विष्णु
१२७—पुराणोंमें भगवान् विष्णु
१२८—वाल्मीकि-रामायणमें भगवान् विष्णु
१२९—महाभारतमें भगवान् विष्णु
१३०—श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् विष्णु
१३१—काव्य तथा नाटकोंमें भगवान् विष्णु
१३२—भगवान् शंकराचार्य और उनके सम्प्रदायमें भगवान् विष्णु
१३३—श्रीरामानुजीय वैष्णव-सम्प्रदायमें भगवान् विष्णु
१३४—श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें भगवान् विष्णु
१३५—श्रीमध्व-सम्प्रदायमें भगवान् विष्णु
१३६—श्रीवल्लभ-सम्प्रदायमें भगवान् विष्णु
१३७—श्रीगौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायमें भगवान् विष्णु
१३८—श्रीरामानन्दीय वैष्णव-सम्प्रदायमें भगवान् विष्णु
१३९—व्रजभक्तोंके काव्यमें विष्णु
१४०—वृन्दावन, मथुरा, द्वारका आदिमें वैष्णव धर्म, मन्दिर, साहित्य आदि
१४१—अयोध्यामें वैष्णव-धर्म, मन्दिर, साहित्य आदि
१४२—बंगालमें वैष्णव धर्मका उदय एवं विकास तथा बँगला भाषामें वैष्णव साहित्य
१४३—असम प्रदेशमें वैष्णव-धर्म और साहित्य
१४४—उत्कल प्रदेशमें वैष्णव-धर्म और साहित्य

१४५—आन्ध्र प्रदेशमें वैष्णव-धर्म और साहित्य
१४६—कर्णाटक प्रदेशमें वैष्णव-धर्म और साहित्य
१४७—तमिलनाडु प्रदेशमें वैष्णव-धर्म और साहित्य
१४८—महाराष्ट्र प्रदेशमें वैष्णव-धर्म और साहित्य
१४९—गुर्जर प्रदेशमें वैष्णव-धर्म और साहित्य
१५०—सूर तथा तुलसीके साहित्यमें भगवान् विष्णु और वैष्णव-धर्म
१५१—व्रजभाषा-साहित्यमें भगवान् विष्णु और वैष्णव-धर्म
१५२—प्रधान वैष्णव-क्षेत्र
१५३—६८ तथा १०८ वैष्णव तीर्थ
१५४—विष्णुके मन्दिर
१५५—'शिल्परत्न' और 'अपराजित पृच्छा' आदि ग्रन्थोंमें विष्णु-प्रतिमा एवं चित्रादिपर विचार
१५६—दक्षिण भारतके दिव्यदेश
१५७—विदेशोंमें भगवान् विष्णुकी उपासना और साहित्य
१५८—वैष्णव आगमोंकी उत्पत्ति और विकास
१५९—वैष्णव दर्शन और उसके भेद—शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, अचिन्त्यभेदाभेदवाद आदि
१६०—विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायोंके प्रवर्तक, आचार्य और उनके सिद्धान्त
१६१—वैष्णव धर्म एवं दर्शनका इतिहास
१६२—नवधा भक्ति और उसके आचार्य
१६३—अनेक वैष्णव-धर्मशास्त्र
१६४—स्मार्त और वैष्णव
१६५—शैव और वैष्णव
१६६—शाक्त और वैष्णव
१६७—'चित्रसूत्र'के आदिकर्ता भगवान् विष्णु
१६८—विष्णुप्रोक्त राजनीति-ग्रन्थ—'वैष्णव-धर्मशास्त्र'
१६९—विश्वका प्रथम नाटक 'लक्ष्मी-स्वयंवर' तथा हरिवंशपुराण
१७०—वैष्णवोंकी काव्य-परम्परा
१७१—वैष्णव-साहित्य और उसके द्वारा जगत्का कल्याण
१७२—वैष्णव-कवि
१७३—'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति'
१७४—'स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न कर्हिचित्'
१७५—'एष निष्कण्टकः पन्था यत्र सम्पूज्यते हरिः'
१७६—विश्वकी वर्तमान स्थितिमें विष्णु-आराधनाकी आवश्यकता
१७७—वैष्णव-धर्मका अन्य धर्मोंपर प्रभाव

# शुभकार्यके लिये प्रतीक्षा मत कीजिये

शष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम् । वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥
अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम् । अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ॥
श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् । न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम् ॥
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति । न मृत्युरामन्त्रयते हर्तुकामो जगत्प्रभुः ॥
अबुद्ध एवाक्रमते मीनान् मीनग्रहो यथा । युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम् ॥
कृते धर्मे भवेत् कीर्तिरिह प्रेत्य च वै सुखम् । (महा० शान्ति० १७५ । १३–१६)

जैसे घास चरते हुए भेड़के पास अचानक भेड़िया पहुँच जाता है और उसे दबोचकर चल देता है, उसी प्रकार मनुष्यका मन जब दूसरी ओर लगा रहता है, उसी समय सहसा मृत्यु आ जाती और उसे लेकर चल देती है। इसलिये जो कल्याणकारी कार्य हो, उसे आज ही कर डालिये। आपका यह समय हाथसे निकल न जाय; क्योंकि सारे काम अधूरे ही पड़े रह जायँगे और मौत आपको खींच ले जायगी। कल किया जानेवाला काम आज ही पूरा कर लेना चाहिये। जिसे सायंकालमें करना है, उसे प्रातःकालमें ही कर लेना चाहिये; क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम अभी पूरा हुआ या नहीं। कौन जानता है कि किसका मृत्युकाल आज ही उपस्थित होगा। सम्पूर्ण जगत्पर प्रभुत्व रखनेवाली मृत्यु जब किसीको हरकर ले जाना चाहती है, तब उसे पहलेसे सूचना नहीं देती। जैसे मछुआ चुपकेसे आकर मछलियोंको पकड़ लेता है, उसी प्रकार मृत्यु भी अज्ञात रहकर भी आक्रमण करती है। अतः युवावस्थामें ही सबको धर्मका आचरण करना चाहिये; क्योंकि जीवन निस्संदेह अनित्य है। धर्माचरण करनेसे इस लोकमें मनुष्यकी कीर्तिका विस्तार होता है और परलोकमें भी उसे सुख मिलता है।

# पढ़ो, समझो और करो

( १ )

## आत्मप्रशंसा आत्महत्या है

सन् १९६५ की बात है । श्रीभाईजी ( श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ) वृन्दावन गये । स्थानीय नगरपालिका-हालमें उनके सत्सङ्गकी व्यवस्था हुई । नगरपालिकाके अध्यक्षने इस अवसरका सुन्दर लाभ उठाते हुए श्रीभाईजीके अनजानमें उन्हें 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करनेकी व्यवस्था की । सभा आरम्भ होनेपर श्रीभाईजीको ज्ञात हुआ कि अध्यक्ष महोदय 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करने जा रहे हैं । उन्होंने बड़ी दृढ़ताके साथ, किंतु विनम्र शब्दोंमें 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करनेका विरोध किया; परंतु वहाँ उपस्थित कतिपय गुरुजनों एवं महात्माओंने उन्हें आदेश दिया कि वे चुपचाप बैठे रहें, उसका विरोध न करें । उन्होंने कहा—''आप मनसे इसको स्वीकार न कीजिये, बाहरी रूपमें 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करके इनको संतुष्ट हो लेने दीजिये ।'' गुरुजनोंके आदेशके सामने श्रीभाईजी नतमस्तक हो गये, किंतु उन्होंने उठकर 'अभिनन्दन-पत्र' स्वीकार नहीं किया । अध्यक्ष महोदयने अपने संक्षिप्त भाषणमें श्रीभाईजीकी बड़ी प्रशंसा की और अन्तमें उन्होंने कहा—'विनयकी मानो भाईजी मूर्ति हैं ।' श्रीभाईजी अपनी प्रशंसाके शब्द सुनकर बड़े ही संकुचित हुए, परंतु अपने शीलवश बीचमें कुछ बोले नहीं ।

अध्यक्षके भाषणके बाद श्रीभाईजीका प्रवचन प्रारम्भ हुआ । श्रीभाईजीने कहा—''मैं 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करने तथा स्वीकार करनेका सदासे विरोधी रहा हूँ । इसीसे मैंने आपलोगोंकी प्रीति एवं कृपाका हृदयसे आदर करते हुए भी 'अभिनन्दन-पत्र'का विरोध किया है । सम्भव है, मेरी यह चेष्टा अधिक मान पानेका प्रयास हो । मनुष्यके अंदर एक छिपी कामना होती है—मान और बड़ाई पानेकी । बहुत बड़े-बड़े त्यागी-महात्मा जो जगत्के समस्त पदार्थोंका त्याग कर चुकते हैं, उनमें भी न कहनेपर, न चाहनेपर, अपितु मना करनेपर भी मान-बड़ाईकी अभिलाषा छिपे रूपमें रहती है । श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीके शब्द हैं—

'सम्मानं कलयातिघोरगरलं नीचापमानं सुधाम् ।'

'मैंने अभिनन्दन-पत्रके लिये विरोध किया, इसके बदलेमें मानके और शब्द सुननेको मिले । इनसे चित्तमें प्रसन्नता नहीं हुई होगी, यह अन्तर्यामी प्रभु ही जानता है । आप सब आशीर्वाद दें—यह मान चाहनेका, बड़ाई चाहनेका मनोरथ आप सबके आशीर्वादसे दूर हो जाय तथा जैसे पुष्पोंकी माला पहननेमें सुख-प्रसन्नता होती है, वैसे ही जूतोंकी माला पहननेमें भी सुख-प्रसन्नताकी अनुभूति हो ।

''महाभारतकी एक कथा है, जिसका सार है—'अपने मुँह अपनी प्रशंसा करना आत्महत्या है ।' इसका अर्थ मैं यह लेता हूँ कि अपने मुँह अपनी प्रशंसा करना जिस प्रकार आत्महत्या है, उसी प्रकार अपने कानोंसे अपनी प्रशंसा सुनना भी आत्महत्या है ।

''कर्णपर्वमें कथा आती है—जब अर्जुन कर्णके साथ युद्ध करनेका भार भीमको सौंपकर युधिष्ठिरके पास पहुँचते हैं, तब युधिष्ठिरको यह भ्रम हो जाता है कि अर्जुन कर्णका वध करके आये हैं और वे अर्जुनसे कर्णके मारे जानेका वृत्तान्त पूछते हैं । अर्जुन संकुचित होकर कर्णको न मार सकनेका कारण बतलाते हैं तथा उसका वध करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

''श्रीयुधिष्ठिर कर्णके बाणोंसे संतप्त थे, अतएव कर्णको सकुशल सुनकर वे अर्जुनपर कुपित हो गये । उन्होंने क्रोधके आवेशमें यहाँतक कह दिया—'अर्जुन ! तुम अपना गाण्डीव धनुष दूसरे किसी ऐसे राजाको दे दो, जो अस्त्र-बलमें तुमसे बढ़कर हो—

प्रयच्छान्यस्मै गाण्डिवमेतदद्य<br>त्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वा नरेन्द्रः ।

युधिष्ठिरके मुखसे अपनी तथा अपने गाण्डीवकी भर्त्सना सुनकर अर्जुन मर्माहत हो उठे और उन्होंने क्रोधमें आकर युधिष्ठिरको मार डालनेकी इच्छासे तलवार उठा ली । श्रीकृष्ण अर्जुनका आशय समझ गये, परंतु उन्होंने अर्जुनसे तलवार उठानेका हेतु पूछा । अर्जुनने कहा—'मेरी यह प्रतिज्ञा है, जो मुझसे यह कह दे कि तुम अपना गाण्डीव धनुष दूसरेको दे दो, उसका मैं सिर काट लूँगा ।'—

''भगवान् श्रीकृष्ण समझ गये कि अर्जुन क्रोधमें पागल

हो रहे हैं । उन्होंने अर्जुनको विस्तारपूर्वक धर्मका मर्म समझाया और कहा—'गुरुजनोंकी हत्या तलवारसे नहीं होती । गुरुजनोंका अपमान कर देना—उन्हें अपमानजनक शब्द कह देना ही उनकी हत्या है । तुम युधिष्ठिरके प्रति अपमानजनक वाक्योंका प्रयोग कर दो । इससे तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो जायगी ।' अर्जुनने अपने परम हितैषी सखा भगवान् श्रीकृष्णके आदेशको शिरोधार्य किया और उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा-पूर्तिके लिये युधिष्ठिरको अपमान-जनक शब्द कह डाले । युधिष्ठिरको रूखी और कठोर बातें सुनाकर अर्जुन अत्यन्त अनमने और उदास हो गये, जैसे भीषण पातक करके कोई मनुष्य पछता रहा हो ।

"अर्जुनने लंबी श्वास ली और फिरसे अपनी तलवार निकाल ली । भगवान् श्रीकृष्णके पूछनेपर कि 'तलवार म्यानसे बाहर क्यों निकाली गयी ?' अर्जुनने कहा—'मैंने अपने बड़े भाईका अपमान किया है । अतएव अपने शरीरको नष्ट कर डालूँगा ।' भगवान् श्रीकृष्णने देखा, स्थिति फिर गम्भीर हो गयी है । उन्होंने समझाया—'अर्जुन ! धर्मका स्वरूप सूक्ष्म है, उसको जानना या समझना बहुत कठिन है । भाईका वध करनेसे जिस घोर नरककी प्राप्ति होती है, उससे भी भयानक नरक स्वयंकी हत्या करनेसे प्राप्त होगा । अतः पार्थ ! तुम अपनी ही वाणीद्वारा अपने गुणोंका वर्णन करो, ऐसा करनेसे मान लिया जायगा कि तुमने अपने ही हाथों अपना वध कर लिया—आत्महत्या कर ली—

'ब्रवीहि वाचाद्य गुणानिहात्मन-
स्तथा हतात्मा भवितासि पार्थ ।'

"अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके हाथके यन्त्र थे, उन्होंने धर्मका रहस्य समझकर अपने मुँह अपने गुणोंका बखान कर अपना वध करनेकी प्रतिज्ञाका निर्वाह किया ।" इस प्रकार आत्म प्रशंसा करना या सुनना आत्महत्याके समान माना गया है ।

( २ )

## स्वयं अपना मददगार

एक नौजवान था, खासा तगड़ा । बुद्धि उसकी अच्छी थी, किंतु आलसी वह बहुत था । कहींसे यदि मुफ्तमें खाने-पीनेको मिल जाय तो परिश्रमका नाम भी वह नहीं लेता था । इसीलिये उसने माँगनेकी विद्या सीख ली थी । इधर-उधरसे मदद लेकर भी वह मौज उड़ाता था ।

एक बार वह टाल्सटायके पास आकर कहने लगा—'मेरे पिताजी स्वयं अङ्गहीन—लाचार हैं । मेरा कुटुम्ब बहुत निर्धन है । मुझे कहीं भी नौकरी नहीं मिल रही है, आप कुछ मदद कीजिये ।'

टाल्सटायने प्रश्न किया—'क्या मदद चाहिये तुझे ?'

'थोड़े पैसे दे दीजिये, तात्कालिक रूपसे तो दुःखमुक्त हो जाऊँगा' युवकने कहा ।

'तुझे अस्थायी रूपसे दुःखमुक्त होना है कि स्थायीरूपसे ?'

—प्रश्न सुनकर युवक अपने मनमें प्रसन्न हो गया । भला स्थायीरूपसे दुःखमुक्त होना किसको नहीं भाता ? उसने सोचा—अब मुझे बड़ी रकम मिल जायगी और खूब सुख-चैनसे दिन कटेंगे ।

'तो सुनो' टाल्सटायने कहा—'तू अपना दाहिना हाथ मुझे बेच दे, पाँच सौ रुबल मिल जायँगे ।' सुनकर युवक उदास हो गया । वह बोला—'साहब ! यह तो मुझे पसंद नहीं होगा; क्योंकि पाँच सौ रुबलसे मेरा हाथ अधिक मूल्यवान् है ।'

'तो इस शहरमें एक ऐसा व्यापारी है' टाल्सटायने कहा—'जो तेरी दोनों आँखोंके लिये एक हजार रुबल दे सकता है ।'

किंतु मेरी आँखें एक हजारसे कहीं अधिक मूल्यकी हैं ।' युवक बोला ।

'तो तेरी स्थायी उपाधि टल सके, ऐसा एक और उपाय बताऊँ—तू अपना सारा शरीर बेच दे, तुझे पाँच हजार रुबल मिल जायँगे ।'

'क्या मेरे शरीरकी कीमत पाँच हजार रुबल ही मिलेगी ?' युवकके प्रश्नमें आश्चर्य था ।

'मैंने तो तुझे सब बातें बतला दीं, अब तू क्या बेच सकता है, उसका निश्चय स्वयं कर ले । जैसा माल, वैसी कीमत मिलेगी ।'

अब उस युवकको अपने शरीरका मूल्य समझमें आ गया । वह अब समझ रहा था कि जिस शरीरके पाँच हजार रुबल मिल सकते हैं, उसी शरीरसे अगर योग्य परिश्रम किया जाय तो अच्छी कमाई भी हो सकती है । सोचकर वह बोला—'मेरा शरीर, हाथ, पाँव या आँखें मैं किसी भी कीमतपर बेच नहीं सकता ।'

'अब समझमें आया।' टालस्टायने कहा। 'आज मैं बहुत प्रसन्न हुआ कि तुझे तेरे अङ्गोंका यथार्थ मूल्य मालूम हो गया। अब औरोंसे मदद न माँगकर अपने शरीरसे ही मदद माँग। तेरा शरीर तुझे जो भी देगा, वह सबसे अधिक और स्थायी सुख देनेवाला होगा।'

और उसी दिनसे वह नवयुवक आलस्यको छोड़कर स्वयं अपना ही मददगार बन गया।

'सुविचार'—विनोद पुरोहित, एम्० ए०

( ३ )

## मुझे सच्चे भारतका स्पर्श अनुभव करने दीजिये

वायसरायकी घोषणाके अनुसार उनके द्वारा चुने हुए विभिन्न दलोंके प्रतिनिधियोंका एक सम्मेलन शिमलामें होने जा रहा था। उसमें भाग लेनेके लिये कांग्रेस-कार्यकारिणीके नौ सदस्य भी जा रहे थे। वे लोग चौंतीस महीनेके कारावासके बाद जेलसे छूटे थे, इसलिये उनका स्वागत करनेको बम्बई और शिमलाके बीच ग्यारह सौ मीलके रास्तेमें विभिन्न स्टेशनोंपर भीड़ इकट्ठी हुई थी। लोगोंके आनन्दकी कोई सीमा नहीं थी। शासकोंने भी कलके विद्रोहियोंके लिये सैनिक मोटरें, स्पेशल ट्रेनें और हवाई-जहाज आदिकी सुविधाएँ प्रस्तुत की थीं, ताकि वे लोग सम्मेलनमें उपस्थित हो सकें।

गांधीजीने रेलके वातानुकूलित डिब्बेमें जानेसे इन्कार कर दिया। वह कांग्रेसी नेताओंके लिये सुरक्षित था। उन्होंने तीसरे दर्जेमें ही सफर करनेका आग्रह किया। 'यूनाइटेड प्रेस ऑफ अमेरिका' के पत्र-प्रतिनिधि प्रेस्टन ग्रोवर उसी गाड़ीमें गांधीजीके साथ थे। उन्हें गांधीजीके स्वास्थ्यकी बड़ी चिन्ता थी। रास्तेमें एक स्थानपर जब गाड़ी रुकी, उन्होंने छोटा-सा एक पर्चा लिखकर गांधीजीको दिया। उसमें लिखा था—'क्या यह अधिक बुद्धिमानीकी बात नहीं होगी कि तीसरे पहरके लिये आप कांग्रेसके अधिक ठंडे डिब्बेमें यात्रा करें। इससे आप थोड़ी देर लेटकर आराम कर सकेंगे। आपको चौबीस घंटेसे जरा भी नींद नहीं आयी है। रास्तेके स्टेशनोंपर आपकी नींदमें बाधा पड़ेगी और इस कारण आप थके-माँदे शिमला पहुँचेंगे, इससे आपको कोई लाभ नहीं होगा।'

महात्माजीने उत्तर लिखा, 'आपके ममता-भरे पत्रके लिये अनेक धन्यवाद। लेकिन मुझे इस स्वाभाविक गर्मीमें पिघल जाने दीजिये। भाग्यकी तरह यह भी निश्चित है कि इस गर्मीके बाद ताजगी लानेवाली ठंडक आयेगी और मैं उसका आनन्द लूँगा। मुझे सच्चे भारतका थोड़ा स्पर्श अनुभव करने दीजिये।'

( 'संगठनमें शक्ति है' से )

( ४ )

## आदर्श भेंट

प्रतिदिन सवेरे सात बजे स्कूल जाते समय मेरे साथ एक हाईस्कूलका पङ्गु विद्यार्थी भी बसमें बैठता था। एक ही समय और एक ही स्टैंड बैठते रहनेके कारण कभी-कभी उससे बात करनेका भी मौका मिल जाता था।

बसमें चढ़ते समय इस विद्यार्थीको बड़ी कठिनाई होती थी। भीड़ होनेपर तो स्थिति और भी बुरी होती थी। कभी बस दूर खड़ी हो जाती थी तो उसे हाथमें पुस्तक लेकर घसीटते-घसीटते बसतक पहुँचनेमें जो कष्ट होता था, वह देखा नहीं जाता था। बरसातके समयकी कठिनाईके विषयमें तो कहा ही क्या जाय, थोड़ी-सी भी बरसात होनेपर रास्तेमें कीचड़ हो जाती थी और उस बेचारेके कपड़े खराब हो जाते थे। बसका कंडक्टर भावप्रवण था। उसकी उस अपंग विद्यार्थीके प्रति सहानुभूति थी। अतः बस ठहरनेका स्थान स्कूलसे दूर होनेपर भी वह बसको स्कूलके समीप रोक लेता था। मैं बहुधा उस विद्यार्थीकी लाचारीकी स्थितिपर बड़ी सहानुभूतिपूर्वक विचार करता था, पर निरुपाय था। उसका आत्मविश्वास एवं परिस्थितियोंसे संघर्ष करनेकी हिम्मत मुझे मुग्ध किये हुए थी।

इसी बीच ग्रीष्मावकाश हो गया। थोड़े दिन पश्चात् नया सत्र आरम्भ होनेपर वह विद्यार्थी मुझे दिखायी नहीं पड़ा। मुझे दुःख हुआ कि बेचारेने शायद मुश्किलोंके कारण पढ़ाई बंद कर दी होगी। फिर मनमें आया कि सम्भव है, उसने स्कूल बदल दिया हो अथवा स्कूलके समयमें कुछ उलट-फेर हुई होगी, जिससे उससे मिलना नहीं हो पाता। परंतु एक दिन मैं घरसे जरा देरसे चला। मेरी बस चली गयी थी। अतएव दूसरी बसकी प्रतीक्षामें मैं खड़ा था। अकस्मात् वह विद्यार्थी तीन पहियेवाली रिक्शा-जैसी गाड़ी लिये हुए दिखायी पड़ा, जिसके पैडल हाथोंसे घुमाये जा सकते थे। ये गाड़ियाँ

अपंग व्यक्तियोंके लिये निर्मित हुई हैं। मैंने उसे जब इस प्रकारकी गाड़ीमें बैठे देखा, तब मुझे बड़ा आनन्द मिला। मैंने उससे पूछा—'भैया! तुमने यह गाड़ी बनवायी है क्या? बड़ा अच्छा हुआ, तुम्हारी तकलीफ दूर हो गयी। कितने रुपये लगे?' विद्यार्थीने उत्तर दिया—'भाई साहब! यह मैंने नहीं बनवायी। देखिये, इसमें क्या लिखा है?' कहते-कहते उसकी आँखें भर आयीं।

मैंने देखा—उस गाड़ीपर लिखा था—'म्युनिसिपल हाईस्कूलकी ओरसे सप्रेम भेंट।'

मैंने उससे पूछा—'तो स्कूलने बनवाकर दी है?'

उसने कहा—'हाँ साहब! मेरी इतनी कठिनाई देखकर, स्कूलके सभी विद्यार्थियों एवं शिक्षकोंने मिलकर मेरी तकलीफको दूर कर दिया है। सबने चंदा इकट्ठा कर यह गाड़ी बनवाकर मुझे भेंट की है। अब बससे आने-जानेकी मेरी सारी तकलीफ दूर हो गयी। मैं अपने हाथसे चलाकर समयपर स्कूल पहुँच जाता हूँ।'

विद्यार्थी यह सब बतलाता जा रहा था और उसकी आँखें कृतज्ञतासे छलछलाती जा रही थीं। मेरे मनमें आया कि एक विद्याप्रेमी अपंग विद्यार्थीको ऐसी सुन्दर तथा उपयोगी भेंट देनेवाले सहपाठी एवं अध्यापक सचमुच नमनके योग्य हैं।

'अखण्ड आनन्द' —व्रजलाल र० दावड़ा

( ५ )

## मनका बड़प्पन

बम्बईके एक श्रीमन्त घरकी बारात सौराष्ट्रके एक गाँवमें आयी हुई थी। कन्याके पिताने बारातियोंके सत्कार-सुविधाकी अच्छी व्यवस्था की थी। प्रत्येक पाँच बारातियोंके बीच एक व्यक्तिको व्यवस्थामें रख दिया था।

इस बारातमें दूल्हेका एक मित्र था, जो बड़ा ही अभिमानी एवं चपल था। उसका खयाल था कि बारातमें आनेवालोंके लिये कन्यापक्षको सभी अनुकूल सुविधाएँ प्रदान करनी ही चाहिये। उसकी आवभगतमें जिस व्यक्तिको रखा गया था, उसको वह बिना कारण परीशान करता रहता था। स्नान करनेके लिये थोड़ा ठंडा जल आनेपर वह बोल उठता था—'ऐसा पानी मुझे पसंद नहीं आयेगा, थोड़ा तेज गर्म पानी ले आओ'। नहानेका साबुन हाथमें लेकर वह कह देता था—'ऐसे साबुनसे तो हमलोग कपड़े भी नहीं धोते। अतः अच्छा साबुन ले आओ।' बेचारा वह शान्त-चित्तसे सब कुछ सहन करके भी अन्तिम दिनतक उसे निभाता रहा। चाय-कॉफी आते ही वह बोल देता था—'ऐसी चाय नहीं चलेगी।' और उसी समय वह उससे भी अच्छी चाय ला देता। इस प्रकार अन्तिम विदाईके समयतक उसने मौन सेवा चालू रखी।

बारातको विदा करनेके लिये सब लोग स्टेशनपर आये। उस युवकने अपनी जेबमेंसे पाँच रुपयेका नोट निकालकर अपना बड़प्पन दिखाते हुए कन्याके पितासे कहा—'आपके उस आदमीने हमारी बड़ी अच्छी सेवा की है, मेरी ओरसे यह इनाम उसे दे दीजियेगा।'

'वे व्यक्ति नौकर नहीं हैं'—कन्याके पिताने चटसे कहा। 'वे तो मेरे रिश्तेदार हैं। हमलोग मेहमानोंकी आव-भगतके लिये बाहरके व्यक्तियोंको नियुक्त नहीं करते। अपने मेहमानोंकी आवभगत हमलोग परस्पर स्वयं कर लेते हैं। और आपने जो बकसीस देनेकी बात कही, उसके विषयमें तो यही कहना उचित होगा कि वे हमारे रिश्तेदार स्वयं एक बड़े बगीचेके मालिक एवं जमींदार होनेके कारण आपको और मुझको बकसीस दे सकते हैं।'

नाईलनके कड़क कपड़े पहननेवाले तथा अभिमानमें चूर उस युवकका अभिमान क्षणमात्रमें चूर्ण हो गया और उसने उस व्यक्तिके चरणोंमें भावात्मक प्रणाम किया।

'अखण्ड आनन्द' —गोपालदास प्र० मोदी

( ६ )

## सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता

नित्यकी अपेक्षा इस बार कलकत्ताकी रात्रियाँ अत्यधिक ठंडी हैं। अर्द्धरात्रिका समय है। दिनका अत्यधिक व्यस्त कार्य समाप्त करके डॉक्टर अभी घर पहुँचे हैं। वे थककर चूर हो चुके हैं। भूख और थकानसे त्राण पानेके लिये उन्होंने शीघ्रतासे अपने कपड़े उतारे, स्नान किया और भोजनके लिये बैठ गये। अभी उन्होंने अपना कौर उठाया ही था कि टेलीफोनकी घंटी बजी और डॉक्टर तत्काल उठ खड़े हुए और टेलीफोनका चोंगा हाथमें ले लिया।

'डॉक्टर साहब! स्थिति अत्यन्त गम्भीर है'। कृपया शीघ्र आइये।'

डॉक्टरका उत्तर था—'परंतु समय बहुत जा चुका है। क्या आप प्रातःकालतक प्रतीक्षा नहीं कर सकते?'

दूसरी ओरसे उत्तर सुनायी दिया—'नहीं-नहीं डॉक्टर, कृपया शीघ्र आइये। अवश्य आइये, डॉक्टर! रोगी

अत्यधिक बीमार है। आप हमारे घरका पता नोट कर लें।'

'बहुत अच्छा; मैं आ रहा हूँ।' डॉक्टरने उत्तर दिया।

'वह व्यक्ति मरणासन्न है, मुझे जाना ही होगा।' अब भोजन करनेका समय नहीं। कहते हुए डॉक्टरने शीघ्रतासे कपड़े पहने, कारको गैरेजसे बाहर निकाला और चल पड़े। रोगी वहाँसे पाँच मीलकी दूरीपर था। डॉक्टर उसका घर जानते थे। अतः वे शीघ्र ही वहाँ पहुँच गये। परंतु उन्हें आश्चर्य हुआ; क्योंकि कोई भी व्यक्ति नित्यके समान द्वारपर उनकी प्रतीक्षा नहीं कर रहा था। उन्होंने दरवाजा खटखटाया, बार-बार किवाड़ भड़भड़ाये; परंतु अंदरसे कोई भी प्रत्युत्तर नहीं सुनायी दिया। संलग्न मकानमें रहनेवाला व्यक्ति शोरगुलसे चिढ़कर बाहर आया और पूछ-ताछ की कि बात क्या है। डॉक्टरने उससे पूछा—'क्या आप मुझे बता सकते हैं कि इस मकानमें किसी तल्लेमें कोई व्यक्ति गम्भीर रूपसे बीमार है?'

'नहीं, मेरी जानकारीमें ऐसी बात नहीं है।'

डॉक्टरने पुनः किवाड़ खटखटाये। इस बार घरका दरवान बाहर निकला। दरवान डॉक्टरको पहचानता था। अर्द्धरात्रिमें डॉक्टरको देखकर उसे आश्चर्य हुआ। डॉक्टरने उसे बतलाया कि 'मैं बहुत देरसे बाहर प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मुझे फोनपर यह बतलाया गया था कि तीसरे तल्लेपर तुम्हारे स्वामी अत्यधिक बीमार हैं और मुझे तत्काल उन्हें देखना चाहिये। परंतु मुझे तो यहाँ कोई भी व्यक्ति मिलनेके लिये जागता दिखायी नहीं देता। क्या तुम कृपा करके मुझे सीढ़ीके ऊपर ले जा सकते हो?' दरवानने कहा—'मैं पहले जरा पूछ आऊँ।' फिर भी डॉक्टर उसके साथ ही तीसरे तल्लेपर चले गये और रोगीका द्वार खटखटाया। परंतु वह भद्र पुरुष भी ऐसे समयमें डॉक्टरको अपने घर देखकर आश्चर्यचकित था और उन्होंने कहा—'डॉक्टर! मुझे नितान्त खेद है कि यहाँ तो कोई बीमार नहीं है और न यहाँसे किसीने आपको बुलवाया है। मुझे भय है कि किसीने आपको झूठी सूचना देकर मूर्ख बनाया है।

इस प्रकार अपमानित और निराश हुए वे डॉक्टर अपनी कारमें पुनः बैठ गये और घरकी ओर गाड़ी चल पड़ी। बहुत रात्रि व्यतीत होनेपर वे अपने घर वापस पहुँच पाये। उन्होंने पुनः अपने कपड़े बदले और इस कड़ाकेकी ठंडमें पुनः स्नान किया और बिना कुछ खाये-पीये सोनेके लिये चल पड़े; क्योंकि अत्यधिक थकानके कारण भूख समाप्त हो चुकी थी।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब वे अपने श्वशुरसे मिले तो उन्होंने अपनी पूर्वरात्रिका अनुभव उन्हें सुनाया। श्वशुर महोदय क्रोधसे तमतमा उठे और रोषके आवेशमें चिल्ला उठे—'वह ठग पक्का बदमाश मालूम होता है। तुम किसी बहुत बड़े धोखेबाजके पाले पड़े। ऐसे लोगोंको तो जरा कड़ा पाठ पढ़ाना चाहिये। देखो बेटा! कितनी अधिक परीशानी तुम्हें कल रातमें हुई।'

डॉक्टरने उत्तर दिया—'नहीं, पिताजी! कलकी रात्रि तो मेरे जीवनकी सर्वाधिक सुन्दर रात्रि थी। यद्यपि यह सत्य है कि किसी व्यक्तिने मुझे भोजन, निद्रा तथा विश्रामसे वञ्चित कर दिया, तथापि यह करते हुए क्या उसने मेरे कितने ही पापोंका प्रक्षालन नहीं कर दिया? क्योंकि दुःख और कष्ट ही वस्तुतः मेरी कमाई हैं। ये मेरे अपने ही कर्मफल हैं। मेरे इन कष्टोंके लिये किसी ठगको क्यों उत्तरदायी समझा जाय? वह तो वस्तुतः मेरा सच्चा मित्र है, जिसने मेरा अपना कर्मफल भुगतनेमें मुझे इतनी अधिक सहायता दी। क्या मेरे दादाभाईने नहीं कहा था—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानं
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥
(अध्यात्म० २।६।६)

'कोई तुम्हें सुख और दुःखका देनेवाला नहीं है। किसी दूसरेको इनके लिये उत्तरदायी समझना बहुत बड़ी मूर्खता है। इसलिये कलकी रात्रि तो मेरे लिये अत्यन्त शुभ रात्रि थी। मुझे तो श्रीहरि और इस व्यक्तिके लिये अत्यन्त कृतज्ञ होना चाहिये, जिसने मुझे अर्द्धरात्रिके समय बुलाया और मेरे-जैसे पापी प्राणीके पापोंका इतनी आसानीसे और इतने कम कष्ट-द्वारा प्रायश्चित्त करनेका अवसर दिया। परंतु पिताजी! जब मैं अपनेको ठगनेवाले व्यक्तिके विषयमें विचार करता हूँ, जिसका मैंने कोई अपराध नहीं किया था, तब मुझे अत्यन्त वेदना होने लगती है; क्योंकि वह बेचारा यह नहीं जानता कि उसके इस कुकृत्यके लिये उसे कितना दण्ड भोगना पड़ेगा। पिताजी! मुझे तो उसके भविष्यकी चिन्ता है।'

जब वे ये शब्द कह रहे थे, उनके कपोलोंपरसे अश्रु बह रहे थे और उनके सम्मुख ही उनके श्वशुर एक प्रतिमाके सदृश खड़े थे। उनकी आँखोंसे भी अश्रु झर रहे थे और यह डॉक्टर थे—विमलेन्दुचन्द्र गुप्त, हमारे विमल, जो न केवल शास्त्रोंके लिये जिये, परंतु जिनका जीवन शास्त्रमय था।

# गीताप्रेसके अमूल्य ग्रन्थ

समय-समयपर 'कल्याण'में निकलनेवाले श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अनुभवपूर्ण लेखोंका संग्रह 'तत्त्व-चिन्तामणि'के नामसे प्रकाशित किया गया है। ये पुस्तकें बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, ब्रह्मचारी-गृहस्थ, ज्ञानी-भक्त—सभीके लिये विशेष उपयोगी हैं। प्रत्येक भागमें अलग-अलग लेखोंका संग्रह है। विवरण इस प्रकार है—

## तत्त्व-चिन्तामणिके बड़े सात भाग

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| पहला भाग—पृष्ठ ३५२, | चित्र रंगीन २, | मूल्य | ०.६२ | डाकखर्च | १.३५ |
| दूसरा भाग—पृष्ठ ५९२, | चित्र रंगीन १, | मूल्य | ०.८७ | " | १.५० |
| तीसरा भाग—पृष्ठ ४२४, | चित्र रंगीन २, | मूल्य | ०.७० | " | १.४० |
| चौथा भाग—पृष्ठ ५२८, | चित्र रंगीन ५, | मूल्य | ०.८१ | " | १.५० |
| पाँचवाँ भाग—पृष्ठ ४९६, | चित्र रंगीन ४, | मूल्य | ०.८१ | " | १.४५ |
| छठा भाग—पृष्ठ ४५६, | चित्र रंगीन १, | मूल्य | १.०० | " | १.४० |
| सातवाँ भाग—पृष्ठ ५३०, | चित्र रंगीन १, | मूल्य | १.१२ | " | १.५० |

इन सातों भागोंके कुल लेख २४१, पृष्ठ ३३७८, चित्र तिरंगे १६, सातोंका मूल्य ५.९३ डाकखर्च ३.५२

## तत्त्व-चिन्तामणि छोटे आकारका गुटका संस्करण (पाँच भाग)

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| तत्त्व-चिन्तामणि—(भाग १)—सचित्र, | पृष्ठ ४४८, | सजिल्द | मूल्य ०.५० | डाकखर्च | १.३० |
| " (भाग २)—सचित्र, | पृष्ठ ७५२, | " | मूल्य ०.५६ | " | १.४० |
| " (भाग ३)—सचित्र, | पृष्ठ ५६०, | " | मूल्य ०.५० | " | १.३५ |
| " (भाग ४)—सचित्र, | पृष्ठ ६८४, | " | मूल्य ०.६२ | " | १.३५ |
| " (भाग ५)—सचित्र, | पृष्ठ ६२१, | " | मूल्य ०.५६ | " | १.३५ |

पाँचों भागोंकी कुल पृष्ठ-संख्या ३०६५, तिरंगे चित्र ६, पाँचों सजिल्दका अलग-अलग जिल्दमें मूल्य २.७४ डाकखर्च २.३१

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

शीघ्रता करें ! मँगानेमें शीघ्रता करें !!

# भारतीय संस्कृतिके तीन अनमोल ग्रन्थ

## ( रियायती मूल्यमें )

'कल्याण' वर्ष ४४-४५ के दो विशेषाङ्कों और एक साधारण मासिक अङ्कमें तीन दुर्लभ एवं अनुपम ग्रन्थोंका समावेश............

( १ ) अग्निपुराण–( सम्पूर्ण ) केवल भाषा, पृष्ठ-सं० ६८८, बहुरंगे चित्र २१, रेखाचित्र २० ।
( २ ) श्रीगर्ग-संहिता–( सम्पूर्ण ) केवल भाषा, पृष्ठ-सं० ५०४, बहुरंगे चित्र ३१, रेखाचित्र १९ ।
( ३ ) श्रीनरसिंहपुराण–( सम्पूर्ण ) सानुवाद, पृष्ठ-सं० २७४, बहुरंगे चित्र २ ।

( पुनश्च–तीनों ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर समझनेके लिये टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं । )

उक्त दोनों विशेषाङ्कोंका मूल्य ९.००+१०.००=१९.०० होता है, परंतु दोनों एक साथ मँगानेपर केवल १५.०० ।

डाकखर्च हमारा होगा ।

## 'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

( १ ) ३७वें वर्षका संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्त-पुराणाङ्क–पृष्ठ-सं० ६८२, मू० .... ७.५०
( भगवान् श्रीराधा-माधवकी मधुर लीलाएँ )

( २ ) ४१वें वर्षका श्रीरामवचनामृताङ्क–पृष्ठ-सं० ७०४, मू० .... ८.५०
( भगवान् श्रीरामके पुराणों तथा अन्य साहित्यमें संगृहीत वचन )

( ३ ) ४३वें वर्षका परलोक और पुनर्जन्माङ्क–पृष्ठ-सं० ६९६, सजिल्द, मू० ... १०.५०
( परलोक और पुनर्जन्मकी जाननेयोग्य बातें )

डाकखर्च सबमें हमारा होगा ।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर )

## श्रीगीता-रामायणकी आगामी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं । इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षाका प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है । उत्तीर्ण छात्रोंको योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है । परीक्षाओंके स्थान-स्थानपर लगभग ५०० केन्द्र स्थापित हैं तथा और भी नियमानुसार स्थापित किये जा सकते हैं । आगामी गीता-परीक्षाएँ दिनाङ्क २६ व २७ नवम्बर १९७२ को एवं श्रीरामायणकी परीक्षाएँ दिनाङ्क ७ व ८ जनवरी १९७३ को होनेवाली हैं ।

केन्द्र-व्यवस्थापकोंसे निवेदन है कि सभी परीक्षाओंके लिये आवेदन-पत्र एवं नवीन केन्द्रोंके लिये प्रार्थना-पत्र दिनाङ्क ३० अगस्त १९७२ तक शीघ्र भेज देनेकी कृपा करें । विशेष जानकारीके लिये पत्र लिखकर नियमावली मँगा सकते हैं ।

व्यवस्थापक—
श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति,
गीताभवन, पो० स्वर्गाश्रम
वाया ऋषिकेश ( पौड़ी गढ़वाल ) उ० प्र०